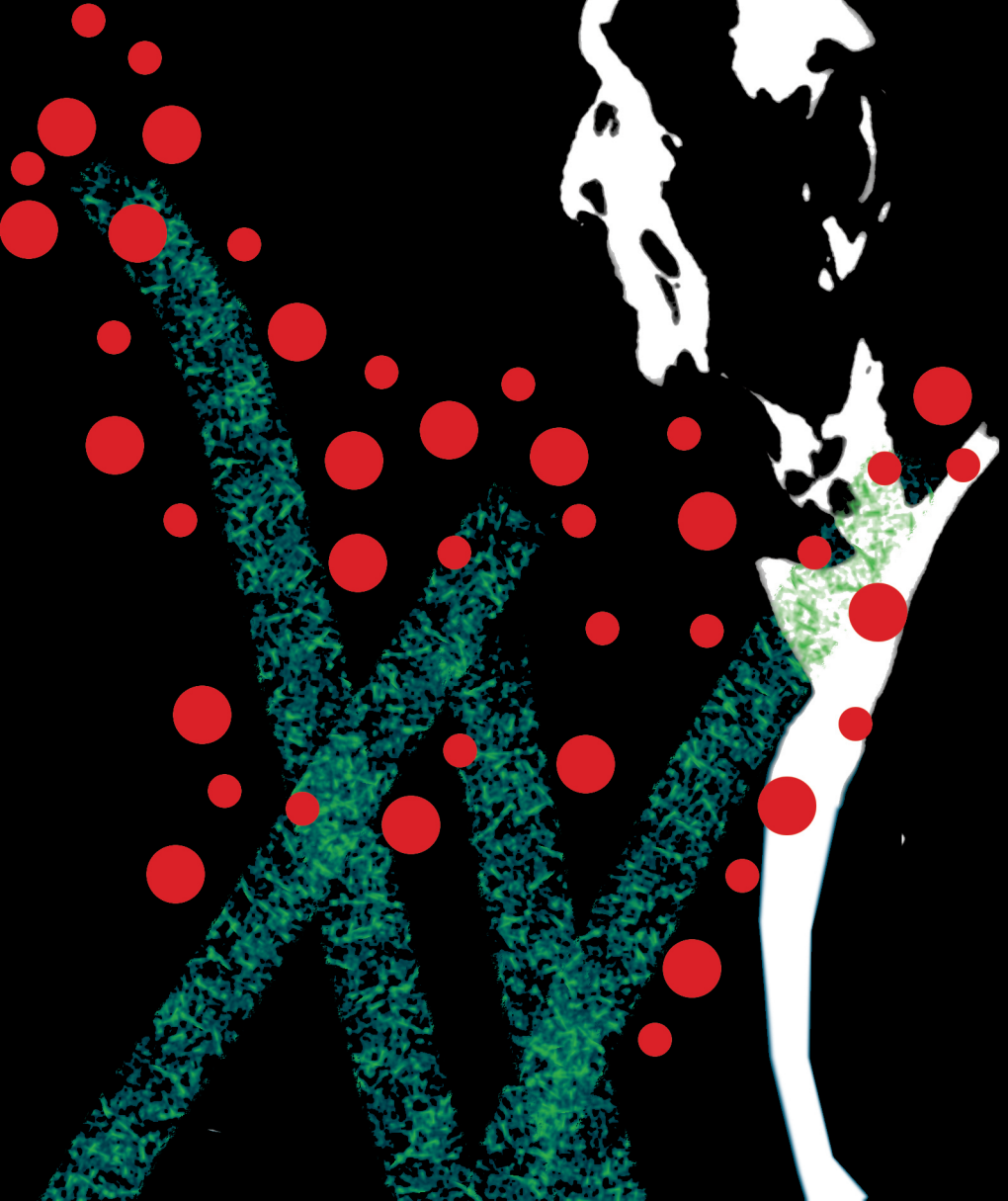


गुलमहदी

केदारनाथ अग्रवाल



गुलमेंहदी

गुलमेंहदी

केदारनाथ अग्रवाल



साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

ISBN : 978-81-7779-188-5

✽

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072

✽

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

✽

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

✽

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

✽

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

✽

अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

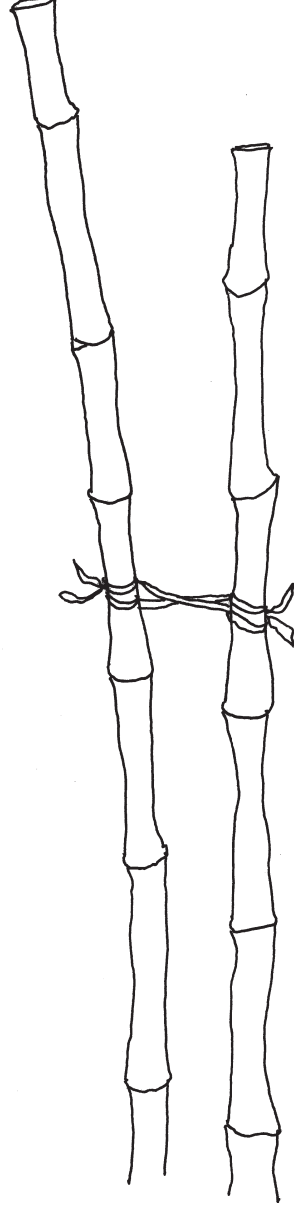
✽

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3



मूल्य : 200.00 रुपये मात्र

गुलमें हदी



प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

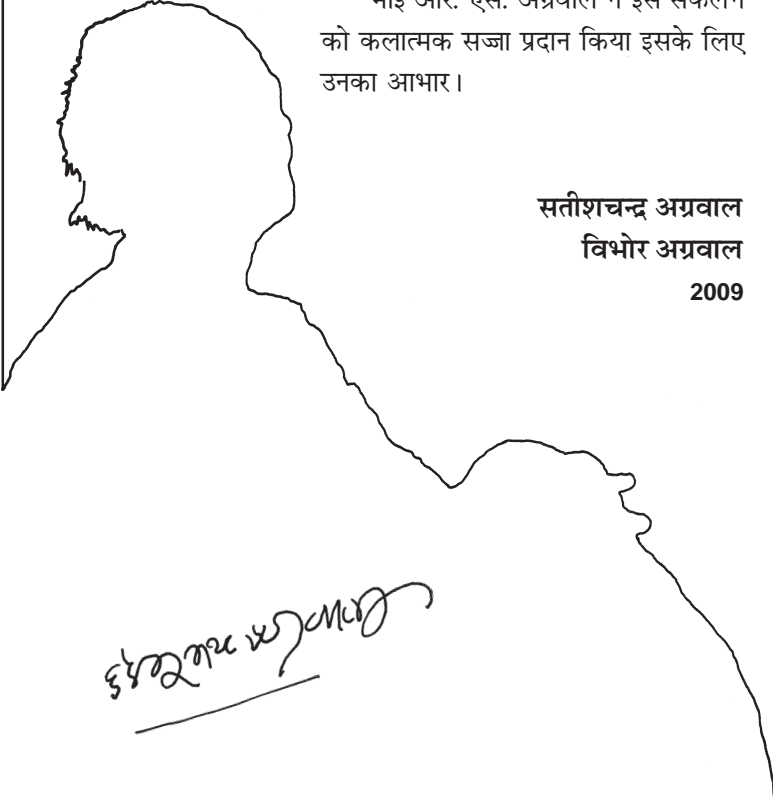
एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल

विभोर अग्रवाल

2009



इश्वरप्रसाद अग्रवाल

प्रकाशकीय

प्रस्तुत संग्रह में श्री केदारनाथ अग्रवाल के पहले के प्रकाशित और अब अप्राप्य तीन काव्य-संकलनों-(1) युग की गंगा, (2) नींद के बादल, (3) लोक और आलोक की अधिकांश कविताएँ और कुछ नई कविताएँ संकलित हैं (देखिए परिशिष्ट)

परिशिष्ट में इन तीनों संग्रहों की भूमिकाएँ, प्रकाशन वर्ष और प्रकाशन संस्था के नाम आदि भी दिए गये हैं।

गुलमेंहदी

अनुक्रम

कविता का शीर्षक या पहली पंक्ति	पृष्ठांक
युग की गंगा	17-70
युग की गंगा	19
गमनागमन	20
गेहूँ	21
सावन का दृश्य	22
प्रत्यूष के पूर्व	23
कोहरा	24
गरा नाला	25
वरदान	26
मिट्टी का वैभव	27
आदमी का बेटा	28
जनता का जीवन	29
जनमत	30
आर्डिनेंस	31
सोने के देवता	32
देवमूर्ति	33
चित्रकूट के यात्री	34
देवताओं की आत्महत्या	35
गुड्डा	37
स्वप्रदृष्टा से	39
अमीनाबाद	41

मूलगंज	43
मजदूर	44
शहर के छोकड़े	45
चन्दू	46
चैतू	47
रनिया	48
डाँगर	50
चितकबरा कुत्ता	52
दीन कुनबा	54
धरती	55
मोमबत्ती और सूरज	57
गुम्मा ईंट	58
राष्ट्रीय प्रतिध्वनि	59
देवागमन	60
कोयले	61
महुआहे	62
गाँव में	63
स्टैचू	64
किसानों का गाना	66
जुताई का गाना	67
करोड़ों का गाना	68
पयाम	70
नींद के बादल	71-112
लोक और आलोक	113-164
देशवासियों से	115
हम	118
मेरा समर्पण	119
मैं	120

कामना	121
लेखकों से	122
मैं	123
जनता के सिपाही से	124
झंडा नहीं ऊपर उठा है	125
110 का अभियुक्त	126
चिट्ठी का व्यंग्य	129
वह जन मारे नहीं मरेगा	131
पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा	132
छोटे हाथ	133
दोषी हाथ	136
पेड़	137
पुकार	138
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा	139
मैंने तुम्हें जाना नहीं	140
झूमा हर मैदान पवन में झूमा	141
जल भी अपना थल भी अपना	142
बादल राग	144
चंद्र-रात्रि	145
सदैव	146
विधाता से	147
नया मुक्त मानव युगांतर करेगा	148
मूर्च्छना और चेतना	149
केन किनारे	150
मेरा देश	152
विचार-कण	154
शांति का गीत	155
पूँजीपति और श्रमजीवी	156

सत्य	158
श्रम	159
किसान से	160
सूरदास की जयन्ती के अवसर पर	162
निराला के प्रति	164
आज अभी आँखों से	165-186
चाँदनी के पर किसी ने काट डाले	167
आज प्यार के पर भारी हैं	167
जिऊँगा लिखूँगा	168
बल विपुल से	169
झींगुर की आवाज	169
आत्मा का लघु दीपक	170
बेल के फूल	170
हम लघु दीपों के समान	171
निराला और हम	172
चिरजीवी यह पवन प्रकम्पित	173
माटी का यह श्याम-हरित तन-तरुवर	174
निर्मल पानी	174
एक कली ऐसी होती है	175
कामिनी हो	175
मेरे मन का सुआ घुमक्कड़ बागीचों का	176
डाल दे दो मुझे अपनी	176
कल कमीज में बटन नहीं थे	177
हे मेरी तुम मेघ मालिनी	178
मैं गया हूँ डूब	178
नहीं, बिल्कुल नहीं	179
मौन से भी मौन	179
मैं तारे -सा टूट गया था तुम्हें छोड़कर	180

सस्ता है भगवान	181
में अयाचित	181
तुम्हें देखने को लालायित	182
झील के ठहराव की निर्गूँज	183
न आना, तुम, न आना	183
मौन सलोना गोरा मुखड़ा	184
जिसने भी देख लिया	184
श्यामकाय	185
में चलते में भूल गया था तुम्हें चूमना	185
गुलमेंहदी	185
परिशिष्ट	187-208
‘युग की गंगा’ की भूमिका	189
‘नींद के बादल’ की भूमिका	199
‘लोक और आलोक’ की भूमिका	200
‘फूल नहीं, रंग बोलते हैं’ में सम्मिलित कविताएँ	207



युग की गंगा

युग की गंगा

युग की गंगा
पाषाणों पर दौड़ेगी ही;
लम्बी, ऊँची,
पथ को रोके
चट्टानों को तोड़ेगी ही।
युग की गंगा
सब प्राचीन डुबायेगी ही;
नयी बस्तियाँ,
शांति-निकेतन
नव संसार बसायेगी ही।
युग की गंगा
गुहा-गर्त से
आगे जाकर
सूर्योदय से खेलेगी ही।
युग की गंगा
सूखी खेती सींचेगी ही;
भूखी, प्यासी,
दुर्बल, निर्बल धरती को हरियायेगी ही।
युग की गंगा
अवरोधों को मेटेगी ही;
एकनिष्ठ हो,
हर्षित मन से,
जन-सागर को भेंटेगी ही!

गमनागमन

रात जाती-प्रात आता!

श्याम वेणी का सरकता साँप ओझल हो रहा है।
दीप्त रक्ताम्बर मुखाम्बुज पूर्ण गोचर हो रहा है।

स्वप्न का पदचाप क्रमशः मंद होता जा रहा है।
भृंग के गुंजार-स्वर को वात ढोता ला रहा है।

मूर्च्छना का मोह सुधि-सा शीघ्र मिटता जा रहा है।
चेतना का हंस हँसता और बढ़ता आ रहा है।
राज जाती-प्रात आता!!

गेहूँ

आर पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है;
नोकिले भाले ताने है;
हिम्मत वाली लाल फौज-सा
मर मिटने को झूम रहा है।

फागुन की मस्ती के झोंके
दौड़े आते हैं उड़-उड़ के,
अंगों में, बाँहों में कस के
उसकी मति को मंद बनाने;
और धूप की गरम गोद में
वैभव की चितवन के नीचे
मीठी-मीठी नींद सुला के
उसका दृढ़ अस्तित्व मिटाने!

लेकिन गेहूँ नहीं हारता,
नहीं प्रेम से विचलित होता;
हँसिया से आहत होता है,
तन की, मन की बलि देता है;
पौरुष का परिचय देता है;
सतत घोर संकट सहता है;
अन्तिम बलिदानों से अपने
सबल किसानों को करता है।

सावन का दृश्य

सावन की गुदगुदी हवा से,
मस्त हुआ पट्टे का चोला ।
पेड़ तले महुए के बैठा
लगा बजाने मउहर मन की ।

सागर की अनगिन लहरों सी
अन्तर की सैलानी ध्वनियाँ,
आर-पार वन के अन्तर में,
व्याप गई उठ-उठकर ऊँचे ।

बेकाबू हो गई बिजलियाँ,
उनये बादल के परद में,
चंचल होकर ऐसा तड़पीं
कूदेंगी पृथ्वी पर जैसे ।

मोती जैसी बूँदें बरसीं;
धरती पर जल धारा बरसी;
झाग भरे लाखों मटमैले
फन फैलाए अहिगन सरके ।

प्रत्यूष के पूर्व

चिन्ता की गहरी रेखाएँ रात की
दिक्वधुओं के मस्तक पर हैं दीखती,
दूर टिमटिमाते तारों की दीप्ति भी
नहीं तमोगुण मिटा सकी संसार का।
रुद्ध कंठ, अवरुद्ध हृदय की बात है;
मूर्छित जीवन का असीम संगीत है;
एक यन्त्रणा, एक वेदना व्याप्त है
मिट्टी के प्रत्येक पिंड के विवर में?
ताम्रचूड़ भी, जो पहले है चेतता,
नवस्फूर्ति से निशि रहते है बोलता,
जाने कैसे आज मौन है!—कहाँ है?
नहीं सुनाई देती उसकी घोषणा!
केवल मानव के नवजन्मे पुत्र की
रोदन भरी पुकार, अकेले कंठ की
आती है कानों में एक निवास से!
अभी सबेरे के होने में देर है।

कोहरा

शिशिर निशा के दुर्दम घोर तिमिर में,
यह परदेशी भारी लम्बा कोहरा
धीरे-धीरे प्रिय धरती पर उतरा;
यहाँ-वहाँ, फिर ठौर-ठौर पर ठहरा
घनीभूत हो गया अधिक ही ऐसा
नहीं दिखायी देता है अब आगे;
प्यारे घर, वन, खेत, गाँव सब खोए,
निज स्वत्वों की नहीं निशानी मिलती।

एक-एक पग बढ़ने में है विपदा
साँस खींचने में है संकट पूरा।
नहीं ठिकाना है यात्रा का, पथ का;
बुरी तरह से विद्यमान है सीमा।

अर्थपूर्ण संकेत-संदेशे वाले,
गौरव-गाथा के चमकीले तारे,
एक-एक कर जितने भी थे सारे,
असमय ही हो गये दृगों से न्यारे।

पर निश्चय है, दृढ़ निश्चय है इतना—
दिनकर जन्मेगा लपटों से लिपटा।
भस्मीभूत करेगा कोहरा क्षण में,
प्यारी धरती को स्वाधीन करेगा।

गरा नाला

काली मिट्टी, काले बादल का बेटा है ।
टक्कर पर टक्कर देता, धक्के देता है ॥
रोड़ों से वह बेहारे लोहा लेता है ।
नंगे, भूखे, काले लोगों का नेता है ॥

आगे, आगे, आगे, आगे, सराता है ।
खोए, सोए मैदानों को थराता है ॥
आओ, आओ, आओ, आओ अराता है ।
जीतो, जीतो, जीतो, जीतो नराता है ॥

वरदान

वैभव की विशाल छत्रछाया में,
स्वर्ण-सिंहासन पर,
रक्खी देख मन्दिरों में पत्थरों की मूर्तियाँ,—
क्षुब्ध हो गर्भवती
ईश्वर से माँगती है वरदान ।
केवल पाषाण हों
कोख की मेरी भी सन्तान ।

मिट्टी का वैभव

झीनी बिनी खाट पर
रात दिन लेटा हुआ आदमी
एक हाथ नीचे की
उपजाऊ धरती को त्यागकर
स्वप्न के महलों की
परियों के प्यार की खोज में
चक्कर लगाता है निर्गुण आकाश की;
असफल हो घुलता है;
पागल हो मरता है—झीनी बिनी खाट पर;
मिट्टी का वैभव यों मिट्टी में मिलता है।

आदमी का बेटा

आदमी का बेटा

गरमी की धूप में भाँजता है फडुआ ।

हड्डी को, देह को तोड़ता है ॥

खूब गहराई से धरती को खोदता है ।

काँखता है, हाँफता है, मिट्टी को ढोता है ॥

गन्दी आबादी के नाले को पाटता है ।

जनता का जीवन

अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी का जीवन है;
संज्ञाहीन, अर्थहीन,
बेकार, चिरे-फटे टुकड़ों-सा पड़ा है !
देरी है—
एक दिन, एक बार, आग के छूने की,
राख हो जाना है ।

जनमत

प्रमुख पृष्ठ पर,
समाचार पत्रों में छपकर,
आज मण्डलाकार मेघ-सा उमड़-धुमड़कर,
शासक को थराने वाला
कोटि-कोटि कण्ठों का जनमत,
भारत को आजादी के हित
ओजपूर्ण गर्जन करता है।

आर्डिनेंस

कागजी घोड़े विदेशी
हिनहिनाते, टाप रखते,
ध्वंस करते गाँव, बस्ती
धूल धरती की उड़ाते,
चाल मारू चल रहे हैं !
बेतहाशा बढ़ रहे हैं !!

सोने के देवता

दीन मानव-जाति का यह स्वर्ण-दिन है !
जो हमारे पूज्य प्रभुजी,
आर्तनाद सुनार का सुन,
कोयले की आग में आ,
रोम से, तन से, हृदय से
आज पहली बार पिघले !
दीन मानव जाति का यह स्वर्ण-दिन है ।

देवमूर्ति

छोटी-सी देवमूर्ति
आले में रक्खी थी।
बेचारी औचक ही,
चूहे के धक्के से,
दाँसा के पत्थर पर
नीचे गिर टूट गई!
ताज्जुब है मुझको तो!-
करुणा के सागर के
अन्तर की एक बूँद,
भूमि पर न छलकी!!

चित्रकूट के यात्री

चित्रकूट के बौड़म यात्री,
सेतुआ, गुड़ गठरी में बाँधे;
गठरी को लाठी पर साधे;
लाठी को काँधे पर टाँगे;
दिनभर अधरम करने वाले,
परनारी को ठगने वाले;
परसम्पति को हरने वाले,
भीषण हत्या करने वाले,
धर्म लूटने के अधिकारी
टोली की टोली में निकले,
जैसे गुड़ के लोभी चींटे,
लम्बी एक कतार बनाके
अपने-अपने बिल से निकले!
बंडी, काली तेलही पहने;
धोती ओछी गन्दी पहने;
गन्दे जीवन के अधिकारी,
स्वर्ग पहुँचने की इच्छा से
लम्बे-लम्बे कदमें धरते,
जल्दी-जल्दी साँसें भरते,
नंगे पैरों पैदल चलते!!
मैं बैठे सोचा करता हूँ—
ऐसे कैसे बौड़म यात्री!
गन्दे जीवन से पाएँगे,
नंगे पैरों पैदल चलके,
अपने मन का कल्पित स्वर्ग!!

देवताओं की आत्महत्या

जाड़े की रात में :
छाया था कुहरा-ही-कुहरा :
जब धरती आकाश के बीच में
गह्वों में, लिहाफों में,
आँखें मीचे लोग जब खुराटे भरते थे।
भद्र उस पूस की रात में,
पूसी भी दुबकी हुई चूल्हे की गरम-गरम गोद में
रोएँदार देह गरमाती थीं;
बन्द दरवाजों और खिड़कियों के बाहर जब
नीम और पीपल के पेड़ सब
मोटी-मोटी छाल ओढ़े, पत्तियों से अंग ढाँके,
बेहद ठिठुरते थे;
कुत्ता नहीं भूँकता था;
भूला हुआ भी न कोई राह जब चलता था;
भद्र उस पूस की रात में,
बिना लोई-कम्बल के
एक-एक देवता घरों से सब
निकल-निकल पड़े,
पारकर स्वर्ग का विशाल सिंहद्वार सभी,
चले धरती की ओर!
कितने ही दिनों से,
जाने कितनों ने न था स्नान किया;
भोग भी न पाया था;
कंडा हो रही थीं आँखें कितनों की;
आया था ऐसा घोर कलियुग,
पृथ्वी पर देवताओं की बात अब कोई नहीं पूछता था;
अस्तव्यस्त परेशान,
चल रहे थे देवता,

ढेला-सी बड़ी-बड़ी आँखें लिए,
 पलकें भी बन्द नहीं करते थे,
 चले थे धरती को भक्तों की खोज में।
 जाड़े की रात में :
 डोला जब टिटुरता पछियाव,
 काँप गई हड्डियाँ भी देह की,
 छींकें आईं कितनों को;
 खों-खों खाँसी के मारे बुरा हाल था!
 छाया था चारों ओर अन्धकार;
 ढूँढ़ नहीं पाये राह;
 भटक-भटककर जंगलों-पहाड़ों में,
 देवतों ने खो दी यों ही सारी रात!
 पहुँचे जब गंगा के किनारे सब,
 फूटती थी लाली तब पूर्व के आकाश में!
 कहाँ जाएँ?—क्या करें?
 भय था न देख लें यों दुर्गति मनुष्य कोई!
 अच्छे चले,
 घर के रहे, न रहे घाट के!
 इसी पशोपेश में,
 सोचते खड़े थे जब देवता नदी के तीर,
 फैलने उजाला लगा,
 झाँकने लगा था सूर्य क्षितिज के उस पार!
 ऐसे दुख-संकट में
 सबने सलाह की;
 कूद पड़े गंगा की पवित्र जलधारा में!!
 छप्-छप्-छप्-छप् सुन पड़ा लाखों बार,
 जाग पड़े अपनी-अपनी झोपड़ियों में,
 तट के सभी किसान!
 सूरज उदय हुआ
 चाँदी का उजाला तब फैल गया चारों ओर,
 गंगा में डूबकर,
 पहुँच गए देवता भी सभी फिर स्वर्गधाम!!

गुड्डा

सुन्दर है !
गोल-गोल टोपी लाल मखमल की
कामदार सर पर है ;
पायजामा, कोट, हरे रेशम के,
सलमे सितारे टँके,
आँखें देखते ही नहीं थकतीं !

छोटा मुँह, छोटी नाक,
आँख, कान छोटे-छोटे,
कपड़े के चेहरे पर लाल डोरे द्वारा बने
बड़े प्यारे लगते हैं ।

सन्तो इसे लिए हुए
पुरखिन-सी प्यार भरी बातें बहुत करती है !
कहती है-कुँअर कन्हैया जी !
बोलो न,
बाँसुरी बजाओ न;
रोती हुई मीरा की गाती हुई रागिनी को
गुड्डा जी ! सुनाओ न !
अम्मा आज गुस्सा हैं,
करो कुछ करामात :
सिकहर से नीचे ला

दूर टँगे गोरस को
खाओ औ' खिलाओ न!
सन्तो इसी भाँति नित्य नई बात गढ़ती है!

गुड्डा को ही
कृष्ण कभी
राम कभी,
समझ-समझकर
मन के अमोल भाव सीधे-सादे शब्दों में
खोल-खोल रखती है!

सृष्टि में इसी प्रकार
विश्व का समस्त धर्म
पा गया विचार-जन्म!
आर पार
ज्योति-पुंज,
सूर्य, चन्द्र,
रत्नभूमि,
शैल, सिन्धु
देख-देख मानव मन
मोह-गया;
बोल उठा सन्तो-सा :
हे त्रिदेव! धन्य! धन्य!!

स्वप्नदृष्टा से

जिन्दगी की भीड़ में कन्धा रगड़ने
और चलने से परे हो।
आदमी की आफतों से, आदमी की मौत से
एकदम डरे हो ॥
रेंगते हैं नाग, बस्ती में, धुएँ के,
देखकर तुम भाग आये ॥
खून, आँसू का-पसीने का
धरातल दूर पीछे त्याग आये।
कायरों की माँद में बैठे अकेले
अन्ध चिन्तन कर रहे हो ॥
हीन-दुर्बल भावनाओं का निरर्थक
सिन्धु-मन्थन कर रहे हो ॥
वृद्ध वेश्या कल्पना की ओर
मारुत-मन उड़ाते जा रहे हो।
धृष्ट बौने ज्ञान का लघुहाथ
ऊपर ही उठाते जा रहे हो।
तार साँसों के असामाजिक बजाकर
मूर्च्छना में झूमते हो।
पास लेटी देह की निज रुग्ण
छाया के अधर को चूमते हो ॥
जन्म को प्रारम्भ काली रात का
संदग्धि मति से मानते हो।
और जीवन को निराश्रित दीर्घ
रजनी ही निरन्तर जानते हो ॥

लोचनों में गाढ़ तन्द्रा ले, स्वयं को भूल,
गहरे सो रहे हो।
चेतना की चातुरी को, जागरण को
मूढ़ बनकर खो रहे हो।
मार डालीं वासनाएँ, कामनाएँ, और
इच्छाएँ रँगिली।
किन्तु स्वप्नों में, उन्हीं की, देखते हो
मूर्तियाँ चंचल छबीली ॥
स्वप्न में जो प्राप्त तुमको, जागते में
ही उसे हम भोगते हैं।
आपदा की भीड़ में कन्धा रगड़ते,
स्वर्ग का सुख भोगते हैं ॥
जन्म, जीवन, जागरण, संघर्ष में
हम गर्व-गौरव खोजते हैं।
तार लोहे के बजाकर आँसुओं की
माधुरी को मोहते हैं।

अमीनाबाद

मंगल का दिन!
आज देवता के मन्दिर में
जहाँ नग्न कर्पूरशिखा का
वहिन' उच्छ्वसित, सुगन्धित लुब्ध-लाज का लास है
धूप और दीपक का धूमालोक जहाँ पर
तनको मनको, रोम-रोम को
करता है अभिभूत नयन को सोमपान-सा,
जहाँ मन्त्रविस्मित बैठी है कुशल कल्पना,
देख रही है अद्भुत सपना।
नर-नारी मिल देवस्तुति को उत्सुक आए-
जैसे चित्रों से बाहर पुतले आये हों;
भिन्न वेश-भूषाधारी हैं;
उनकी अधजागी आँखों में गूढ़-भरी तन्द्रा भारी है;
उनके मुख अनबोल युगों से, भाषा भूले, बन्द रहे हैं;
उनके मन में क्षोभ भरा है-
कलाकार का मर्म न जाना;
कर में लिये प्रसाद खड़े हैं!
कुछ मूरत पर चढ़ जाता है,
शेष उन्हें वापस मिलता है, सिन्दूरी टीके के साथ।
महावीर जी पत्थर के हैं,
उनकी गठन बहुत साधारण
नहीं कला की अनुपम कृति हैं!
अंग-अंग सिन्दूरी रंग से सना हुआ है;

गदा और पर्वत धारे हैं,
महावीर हैं !
राम और सीता के सेवक मौन खड़े हैं !
ऐसे बलधारी को निर्बल पूज रहे हैं !!

और उन्हीं के चारों ओर,
ऊँची-ऊँची दूकाने हैं;
बहुत बड़ा बाजार सजा है;
सोना, चाँदी, कपड़ा, सौदा सब बिकता है;
क्रय-विक्रय का द्वार खुला है;
मोटर, बग्घी, रिक्शा, ताँगा दौड़ रहे हैं !
धन-कुबेर साकार खड़ा हो
करता है स्वलित अखंडित अट्टहास की क्षुरधारा को !
नीचे,
पैरों के समीप नरकुण्ड बड़ा है;
प्रतिक्षण उससे,
आह उमड़कर,
उठती है नंगे भूखों की;-
और लोप वह हो जाती है
धूम्र रेख-सी नील निलय में !
ऊपर सिर पर
कालरात्रि का नाग नाचता है फन काढ़े !
यही अमीनाबाद है !

मूलगंज

रात है
कृत्रिम प्रकाश की
झूठी चकाचौंध की
रात है
छज्जों, दूकानों में
विद्युत् के वल्व खूब
डालते हैं कोढ़ की सफेदी
रात है
दीर्घ देहवाला मार्ग
वासस्थान
दीवारें
पीप पड़े फोड़ों के समूह हैं
रात है
गंधभरी
वायु सड़ी
राक्षसी पसीने की आती है
रात है
अंध वासना में नर
खूब पिये
रंडियों के साथ खोया
नर्क में डूबा
रात है
सत्य, ज्ञान
उच्चादर्श
गन्दी मलमूत्र की नालियों में बहते हैं
विश्व का निकृष्ट अंग मूलगंज !
रात है !!

मजदूर

हम सब मजदूर
बड़ी कड़ी मेहनत में पिसते हैं !
भोंपू के बजते ही
भिंसारे फाटक में घुसते हैं ;
काम कर आधा दिन,
चूर हो हड्डी से, पसली से, मुरदा हो
दो तक ;
फिर, साँसें भर छाती में,
सूरज के डूबे तक,
पञ्जों को, पावों को, पीठ को, पेट को,
कुत्तों-से बदतर हम, घिसते हैं रोटी के दीवाने ;
पीते हैं छः आने-दस आने !
भोंपू के बजते ही
मैले ही पैसे से मत्थे को मलते हम,
भाड़े के दरबे में बसने को जाते हैं ;
थोड़ी ही देर में-आग की आँच में,
पीते पनेथी हैं ;
खाते हैं पेट की थैली में गाड़ते,
रोटी के टुकड़ों को दाँत से काटते !
माँजते हैं बरतन ;
नंगी ही धरती पर सोते हैं,
काँखते-हाँफते ;
रोज की बदबू में सड़ते हैं दुनिया की ।

शहर के छोकड़े

शहर के छोकड़े
मैले, फटे, बदबूदार वस्त्र पहने,
बिना तेल कंघी के,
रूखे उलझाए बाल,
नंगे पैर,
नंगे सिर,
कीचड़ लपेटे तन,
गलियों में घूमते हैं!
खाली जेब
खोंचे के पास बैठ,

स्वाद लेते हैं ख़ूब चाट का चीखे बिना।

जूठी जली बीड़ियों को बीनकर
घूमते निकलते हैं पीते हुए!
माँओं और बहनों को
पाप की दृष्टि से ताकते हैं!
शहर के छोकड़े
गन्दा धुँआ छोड़ते हैं समाज में!

चन्दू

चन्दू चना चबैना खाता।
ऊबड़-खाबड़ कड़े हाड़ की,
कड़ी गाँठ की देह दिखाता।
सुन्दरता सौ कोस भगाता ॥

ऊपर धड़ के, नहीं चीथड़ा;
नीचे धड़ के, एक चीथड़ा;
क्या जाने क्या समझ लगाता,
साधू का संन्यास लजाता ॥

मुफ्त मिले अपने जीवन के
घण्टों, मिनट, सेकन्डों को गिन-
कभी नहीं वह दाम लगाता!
भीख माँगते पैसा पाता!!

ईश्वर, धर्म, समाज, सम्पदा,
विद्या, बुद्धि, विवेक खोजता-
कभी नहीं वह समय गँवाता।
गन्दी गलियों में धँस जाता ॥

कहीं एक कोने में बैठा
हाथ चरस की चिलम दबाए,
गुपचुप-गुपचुप फूँक लगाता,
शेष आयु का धुआँ उड़ाता!
चन्दू चना चबैना खाता!!

चैतू

बीवी, बच्चे, घर की माया,
सब की दुनियादारी तज के,
सूरज डूबे, छुट्टी पा के,
जिन्दा रहने से उकता के,
चैतू ने बेहद ठर्रा पी,
बेहोशी में मर के सोया
खून पसीने से जो पाया
वह कड़वे पानी में खोया!

फिर रात गई—फिर भोर हुई,
फिर साँस चली—चैतुआ जिया,
कुछ हाथ हिले—कुछ पैर डुले,
आँखें खोले उठ खड़ा हुआ!
बीवी ने खोया पति पाया,
बच्चों को खोया बाप मिला!
घर की माया ने मोह लिया,
फिर दाम कमाने चला गया।

रनिया

रनिया मेरी देस बहन है,
अति गरीब है—अति गरीब है!
मैं, रनिया का देस बन्धु हूँ,
अति अमीर हूँ—अति अमीर हूँ!!

रनिया के कर में हैंसिया है,
घास काटने में कुशला है।
मेरे हाथों में रुपिया है
मैं सुख-सौदागर छलिया हूँ!!

रनिया अब तक जन्मांतर से
ज्यों-की-त्यों पूरी भूखी है
मैं जन्मान्तर से वैसा ही
ज्यों-का-त्यों पूरा खाता हूँ!!

रनिया बिलकुल वही-वही है,
चिरकुट ही चिरकुट पहने है।
मैं भी बिलकुल वही-वही हूँ,
रेशम ही रेशम पहने हूँ॥

रनिया मेरी दुखी बहन है,
वह निदाघ में मुरझ रही है।
मैं रनिया का सुखी बन्धु हूँ
चिर वसन्त में विहँस रहा हूँ॥

मैं औ' रनिया एक देश की
एक भूमि की, एक कुञ्ज की,
एक रंग की, एक रूप की,
रोती हँसती दो कलियाँ हैं ॥

रनिया कहती है जग बदले
जल्दी बदले—जल्दी बदले।
मैं कहता हूँ कभी न बदले
कभी न बदले—कभी न बदले ॥

किन्तु आज मेरे विरोध में
पूरा हिन्दुस्तान खड़ा है
अब रनिया के दिन आये हैं
जग उसके माफिक बदला है।

डाँगर

ये कामचोर
आरामतलब
मोटे तोंदियल भारी भरकम
हट्टे-कट्टे सब डाँगर ऊँघा करते हैं;
हम चौबिस घण्टे हँफते हैं।

है भूख बड़ी लम्बी-चौड़ी-
दस बीस जनों का सब खाना
ये एक अकेले खाते हैं;
दिन भर ही पागुर करते हैं
हम भूखे ही रह जाते हैं।

सिरदर्द हमें दुख देता है,
ज्वर वात हमें दुख देता है;
आँखों में पीर समाई है;
हट्टे-कट्टे डाँगर डकारते रहते हैं;
क्षय रोग हमें भख जाता है।

पेड़ों की लम्बी छाया में
ठंडी बयार के झोकों में
दुख-दुनिया से आँखें मीचे,
सपनों से रीझे रहते हैं
हम तो काँटो से रूँधते हैं।

बस जीभ घुमाने भर को है,
दो कान डुलाने भर को हैं;
दो सींग दिखाने भर को हैं,
बस पूँछ दबाने भर को हैं!
हम सीना खोले फिरते हैं!!

ये नीच प्रकृति,
ये भ्रष्ट-बुद्धि,
आजाद विचरने के दुश्मन
हट्टे-कट्टे डाँगर उठकर
आगे बढ़ने से डरते हैं।
हम आजादी को मरते हैं।

चितकबरा कुत्ता

यह चितकबरा कुत्ता
हीन हृदय से और देह से—
बूढ़ा होकर,
खाली पेट,
निकला घर से,
बाहर एक तरफ कोने में
लेटा लेटा औंघाता है !

यह चितकबरा कुत्ता
कभी युवा था;
बिजली तो रोंओं में थी ही,
पंजों में संहार भरे था !
बात हवा से यह करता था !
एक झपाटे में म्याऊँ को सर करता था ।
निर्भय दुम ऊँची रखता था ।
अपना चौड़ा जबड़ा खोले
गुर्राता था जैसे काल !
रात भयानक थर्राती थी !
अब अंधा है यह चितकबरा कुत्ता ।
आँखों से लीवर बहता है ;
आहट पर भी नहीं भौंकता ;
एक साथ अब लाखों मक्खी
बेचारे पर हमला करके

चौबिस घण्टे उसको खातीं,
लेकिन यह चितकबरा कुत्ता
अब गूँगा है !
बिल्ली खी-खी-खी-खी हँसती
चौतरफा टहला करती है !
यह बेचारा बहरा बनकर,
चुप रहता है ।
जिन्दा है तो भी मुरदा है ।

दीन कुनबा

दीन दुखी यह कुनबा,
जाड़े की थरथर में काँपता
अपनी चौपारी में बैठा,
ताप रहा है कौड़ा!!
लकड़ी कण्डे सुलग रहे हैं,
आग लगी है;
थोड़ी-थोड़ी लपक उठी है;
धुआँ बढ़ा है,
बाहर नहीं निकल पाता है,
सबको घेरे रह जाता है!!

धरती

यह धरती है उस किसान की
जो बैलों के कंधों पर
बरसात घाम में,
जुआ भाग्य का रख देता है,
खून चाटती हुई वायु में,
पैनी कुसी खेत के भीतर,
दूर कलेजे तक ले जाकर,
जोत डालता है मिट्टी को
पाँस डालकर,
और बीज फिर बो देता है
नये वर्ष में नयी फसल के।
ढेर अन्न का लग जाता है।
यह धरती है उस किसान की!

नहीं कृष्ण की;
नहीं राम की,
नहीं भीम, सहदेव, नकुल की,
नहीं पार्थ की,
नहीं राव की, नहीं रंक की,
नहीं किसी की, नहीं किसी की;
धरती है केवल किसान की।

सूर्योदय, सूर्यास्त असंख्यों
सोना ही सोना बरसाकर

मोल नहीं ले पाए इसको;
भीषण बादल
आसमान में गरज-गरजकर
धरती को न कभी हर पाये,
प्रलय सिन्धु में डूब-डूबकर
उभर-उभर आयी है ऊपर।
भूचालों-भूकम्पों से यह मिट न सकी है।

यह धरती है उस किसान की,
जो मिट्टी का पूर्ण पारखी,
जो मिट्टी के संग साथ ही,
तपकर,
गलकर,
जीकर,
मरकर,
खपा रहा है जीवन अपना,
देख रहा है मिट्टी में सोने का सपना;
मिट्टी की महिमा गाता है
मिट्टी के ही अन्तस्तल में,
अपने तन की खाद मिलाकर;
मिट्टी को जीवित रखता है;
खुद जीता है।
यह धरती है उस किसान की!

मोमबत्ती और सूरज

जीवन नहीं मोमबत्ती है ।
जले और रोए, पिघले, जो
खोये अन्त समय में!!
जीवन तप्त प्रकाश-सूर्य है,
जो गहरे सागर से उभरे,
लाल अग्नि सा पहले दहके;
जड़, चेतन सम्पूर्ण प्रकृति के
रोम-रोम में ज्वाल उगल दे;
और उठे फिर ऊपर, ऊपर,
पूरा चमके दिव्य चक्षु बन;
दस दिशि बरसे दृष्टि अपरिमित;
अम्बर अवनी को ऐसा आलोकित कर दे
जीवन ही बन जाय उजाला;
और ढले फिर धीरे-धीरे,
अस्ताचल की ओर अकेले,
हेमांचल को जैसे तपसी
गेरुआ वस्त्र पहनकर जाता ।

गुम्मा ईंट

न कच्ची है,
न सेवर है,
न कोई खोखलापन है,
समूची ठोस है, ठस है,
बड़ी पक्की, बड़ी मजबूत हस्ती है
न यह होती
न टिकने की जगह होती
न बुनियादी सहारा आसरा होता
न बालू और पानी पर
खड़ा कोई किला होता !

इसी का दम है, बूता है
कि छोटे से बड़ा निर्माण करती है
न आँधी से,
न पानी से,
न तूफानों से डरती है,
बला से, मौत से, आफत से लड़ती है ।

राष्ट्रीय प्रतिध्वनि

लाकेट लूँगी,
मेरा गला बड़ा सूना है,
आज न मानूँगी-झगडूँगी,
लाकेट लूँगी।

मैं तुमको पहचान गई हूँ
वादे करके तोड़ चुके हो,
तुम पूरे झूठे निकले हो,
जब देखो तब टरकाते हो।

आज तुम्हें तो देना होगा,
मेरी जिद को रखना होगा।
यही उचित है झट दे डालो,
वरना बड़ा बखेड़ा होगा।
लाकेट लूँगी,
सदा तुम्हारी बनी रहूँगी,
सुख में दुख में साथ रहूँगी,
मुझसे तुमसे प्रेम रहेगा।

(क्रिप्स मिशन के आने पर)

देवागमन

आज तो इतवार है जी,
कौन सी आफत पड़ी है जो सबेरे से उठूँ मैं,
मेल से भी तेज दौड़ूँ,
और टक्कर खा, कहीं पर
एक एक्सीडेन्ट कर दूँ!
छै दिनों से मैं बराबर भीड़ में चलता रहा हूँ,
चौमुहानी आफतों से मौत से लड़ता रहा हूँ,
थक गया हूँ,
चूर है तन,
सातवाँ दिन अब मिला है,
आज तो सुस्ता रहा हूँ!

शान से लेटा हुआ हूँ,
तंग नाहक मत करो जी,
स्वप्न सुन्दर देखता हूँ,
तीन देवता आ रहे हैं
हिन्द अब आजाद होने जा रहा है।

(क्रिप्स मिशन के आने के समय)

कोयले

जल उठे हैं तन बदन से,
क्रोध में शिव के नयन से।
खा गये निशि का अँधेरा,
हो गया खूनी सबेरा।
जग उठे मुरदे बेचारे;
बन गये जीवित अँगारे!
रो रहे थे मुँह छिपाये;
आज खूनी रंग लाये!

मछुआहे

अर्राती चौगुनी धार को
सहज चीरकर बढ़ने वाले,
गंगा तट के ये मछुआहे,
नैया पार लगाने वाले,
आदमखोर मगर को घेरे
बल-विक्रम से मार रहे हैं;
क्रूर कुल्हाड़ी की चोटों से
मांस काटकर राँध रहे हैं,
और गरम ही गरम चबा के
भूख पेट की मिटा रहे हैं!
काश इन्हें आजादी की भी
ऐसी उत्कट भूख सताती!!
पूरे त्रासित होकर जिससे,
ये जी-जान लगाकर जुटते,
ज्वाला एक जलाकर क्षण में
आदमखोर गुलामी भखते।

गाँव में

उसी पुरातन चक्की का,
कर्कश मोटा स्वर,
अन्धकार के आर्त्तनाद-सा,
सुन पड़ता है।

गाय, बैल, भेड़ों, बकरी,
पशुओं के दल में,
मूर्ख मनुष्यों का समाज
खोया रहता है॥

सड़े घूर की, गोबर की
बदबू से दबकर,
महक जिन्दगी के गुलाब की
मर जाती है।

रार, क्रोध, तकरार, द्वेष से,
दुख से कातर,
आज ग्राम की दुर्बल धरती
घबराती है।

स्टैचू

घास पर लेटा हुआ था—
सब कहीं काले सलेटी मलिन धब्बे
व्योम में फैले हुए थे;
दीनता की ही बड़ी गठरी सरीख दिख रहा था,
सिर धरे, जिसको समेटे बसुमती,
निज पुरातन आयु का सब कुछ सम्हाले—
रात भर लकड़ी टिकाए, कमर तोड़े,
चुप खड़ी थी (अन्त में यह दृश्य देखा)।
आदि में, पर खूब देखा।
श्वेत प्रस्तर खण्ड में भी
नग्न नारी देह सुन्दर
मांस की मृदुता भरे थी,
चाँदनीमय स्वस्थ यौवन खुल रहा था;
हंस-ग्रीवा के सुकोमल वृत्त पर
मुख था कलामय;
सूक्ष्म भाव-प्रवाह-वाहक,
तार वीणा के सदृश, सब
केश जूड़े के खिंचे थे,
राह भूले नेत्र-नेही खुल गए थे;
बन्द होंगे फिर न जैसे, रस भरे दोनों अधर,
होकर कड़े अति सट गए थे,
और कन्धों से तनिक नीचे उतरकर,
वासना के हाथ से अब तक अछूते औ' अदोलित,

दो मृदुल दलदार वृत्ताकार कुच थे;
ठीक जिनके बीच के सँकरे सुथल पर
पञ्चशर ने पुष्प बाणों को धरा था।
क्षीण कटि थी;
पीन जाँधें;
चल नहीं सकते चरण थे।
दूर, अतिशय दूर.....
धूमिल क्षितिज-रेखा-पार जाकर,
आज तक आया न प्रेमी मूर्तिकार!
नग्न नारी प्राण प्यारी चुप खड़ी थी!

किसानों का गाना

हमारे हाथ में हल है,
हमारे हाथ में बल है,
कि हम बंजर को तोड़ेंगे—
बिना तोड़े न छोड़ेंगे।

कड़ी धरती इधर भी है,
कड़ी धरती उधर भी है,
कि हम उसको विदारेंगे—
न चूकेंगे, न चूकेंगे।

पसीना खूब सींचेंगे,
रुधिर सारा उलीचेंगे,
कि हम मिट्टी भिगोएँ—
छने आटे-सी माड़ेंगे।

हमें जो कोई टोकेगा,
हमें जो कोई रोकेगा,
कि हम उसको हटाएँ—
न कुछ कानून मानेंगे।

हम अपना बीज बोएँगे,
हम अपना प्राण होमेंगे,
कि आजादी उगाना है—
गुलामी को मिटाना है।

जुताई का गाना

मेरे खेत में हल चलता है,
नाहर बैल जुंआ कँधियाये,
ऊँचे-ऊँचे शृंग उठाए,
धौलागिरि से हैं मन भाये।
मेरे खेत में हल चलता है,
फाड़ कलेजा गड़ जाता है,
तड़-तड़ धरती तड़काता है,
राह बनाता बढ़ जाता है,
मेरे खेत में हल चलता है,
खून पसीना चुचुआता है,
तेरा तन-मन खप जाता है,
मिट्टी का तन नरमाता है,
मेरे खेत में हल चलता है।
मैं युग की निद्रा खोता हूँ,
गेहूँ चना नहीं बोता हूँ,
खूनी अंगारे बोता हूँ।

करोड़ों का गाना

हरेक तार साँस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल।
हजारों आदमी का दल
हजारों औरतों का दल
तड़प-तड़प के है विकल;
नवीन जोश जिन्दगी जगाये चल,
जगाये चल, जगाये चल, जगाये चल!
हरेक तार साँस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल!!

सभी का तन गुलाम है,
सभी का मन गुलाम है,
सभी की मति गुलाम है,
सभी की गति गुलाम है,
गुलामियों के चिन्ह को मिटाये चल,
मिटाये चल, मिटाये चल, मिटाये चल!
हरेक तार साँस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल!!

नयी उमंग से उभर,
नये विचार से विचर,
उथल-पुथल के कामकर,
न डर, न डर, न डर, न डर,
जमीन आसमान को हिलाये चल,
हिलाये चल, हिलाये चल, हिलाये चल!

हरेक तार साँस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल!!

गगन में बिजलियाँ चलें,
पवन में बिजलियाँ चलें
लहर में बिजलियाँ चलें,
डगर में बिजलियाँ चलें,
अजेय आतमा का बल दिखाये चल,
दिखाये चल, दिखाये चल, दिखाये चल!
हरेक तार साँस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल!!

अशक्त की भुजाओं में,
गरीब की गुहाओं में,
विपत्ति आपदाओं में,
स्वदेश की दिशाओं में,
दहाड़ते लहू का रव गुँजाये चल,
गुँजाये चल, गुँजाये चल, गुँजाये चल!
हरेक तार साँस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल!!

विरोध को, विवाद को,
अनीति को, प्रमाद को,
घने घिरे विषाद को,
विषाक्त न्याय-नाद को,
स्वतंत्र इंकलाब से हराये चल,
हराये चल, हराये चल, हराये चल!
हरेक तार साँस का बजाये चल,
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल!!

पयाम

न स्वप्न को निहारना ही
जिन्दगी का काम है ।
न धर्म से, न धैर्य से
निबाहने का काम है ।

न बेबसी से हाथ ही
पसारने का काम है ।
न दासता में रेंगना ही
जिन्दगी का काम है ।

मनुष्य ही मनुष्य का
बिका हुआ गुलाम है ।
हरेक नौजवान को
यही-यही पयाम है ।

उबाल, जोश, आग, गाज
जिन्दगी का नाम है ।
महान क्रान्ति का विधान
जिन्दगी का काम है ॥

नींद के बादल

क्यों आते हैं भाव न जिनका

क्यों आते हैं भाव न जिनका
मैं अधिकारी?
क्यों आते हैं शब्द न जिनका
मैं व्यवहारी?
कविता यों ही बन जाती है
बिना बनाए;
क्योंकि हृदय में तड़प रही है
याद तुम्हारी।

नव गुलाब

ओस-बूँद कहती है : लिख दूँ
नव-गुलाब पर मन की बात।
कवि कहता है : मैं भी लिख दूँ
प्रिय शब्दों में मन की बात॥
ओस-बूँद लिख नहीं सकी कुछ
नव-गुलाब हो गया मलीन।
पर कवि ने लिख दिया ओस से
नव-गुलाब पर काव्य नवीन॥

तुम मेरी कविता को छूती

तुम मेरी कविता को छूतीं
वह अनुपम हो जाती;

तुम शब्दों के पंख लगातीं
वह कोयल हो जाती;
तुम ऊषा के द्वार खोलती
वह फूली न समाती,
देख देख सौन्दर्य तुम्हारा
गीत तुम्हारे गाती।

दुपटे-चुँदरी का गठबन्धन

जिस दिन, जिस क्षण, जिस साइत में,
मेरा पाणिग्रहण हुआ।
एक अलौकिक पूर्ण सुन्दरी का
उर में आगमन हुआ ॥
दुपटे-चुँदरी का गठबन्धन,
मेरा जीवन-वरण हुआ।
प्रथम-प्रेम का वह मेरा दिन,
अमर मधुर संस्मरण हुआ ॥

मैंने प्रेम अचानक पाया

मैंने प्रेम अचानक पाया
गया ब्याह में युवती लाने,
प्रेम ब्याहकर संग में लाया ॥
घर में आया, घूँघट खोला,
आँखों का भ्रम दूर हटाया।
प्रेम-पुलक से प्रेरित होकर
प्रेम-रूप को अंग लगाया ॥

प्रिय के निर्झर

झर-झर मेरे प्रिय के निर्झर।
कविता लिखता,

कविता पढ़ता,
कविता में ही डूबा रहता,
और और तू हहर-हहर कर
बरस बरस ले प्रिय के निर्झर ॥
झर-झर मेरे प्रिय के निर्झर ।
दिन बीते,
रजनी भी बीते,
युग-युग की यह यात्रा बीते,
रीते कभी न तेरा मधुरस;
कंठ न सूखे मेरा, निर्झर!!
झर झर मेरे प्रिय के निर्झर!

मिल गये हम-तुम

मिल गये; हम-तुम अपरिचित,
सुमन-गंध अमन्द विहरित ।
अमिल, उर-उर, स-तन, अविदित
गंध-वंधित मिल गये ।
मिल गये; हम तुम विकलतर,
प्राण-चुम्बन को ललककर-
अधर से ज्यों अधर मृदुतर,
प्रेम-प्रेरित मिल गये ।
मिल गये; हम-तुम बिछुड़कर,
रसिक पिक के मधुर स्वर भर,
देव-वीणा से मचलकर,
गीत गुंजित मिल गये ।

हम दोनों का प्यार रहे

हम दोनों का प्यार रहे ।

जिस दूर्वा पर हम-तुम लेटे
कोमल हरित उदार रहे ।

रजनी की आँखों में जागृत
ईश्वर साक्षीकार रहे ॥

तरु में प्रेम विकार, लता में
पुलक, वासना-भार रहे ।

हम-तुम दोनों को मद विह्वल,
चुम्बन का अधिकार रहे ॥

हम दोनों का प्यार रहे !!

भर-भर लोचन देखूँ प्यारी

भर-भर लोचन देखूँ प्यारी, भर-भर लोचन देखूँ ।
ऊषा देखूँ, लाल गुलाबी घन का जीवन देखूँ;
ओस-धुले, मधु-कोष-भरे, फूलों का चुम्बन देखूँ;
पर तुमको बिन देखे प्यारी, सूने लोचन देखूँ!
भर-भर लोचन देखूँ प्यारी, भर-भर लोचन देखूँ!!

बल्लरियाँ मदमाती देखूँ-विचलित यौवन देखूँ
गुंजन-गंध-अमंद लिये तरु का पागलपन देखूँ;
पर तुमको बिन देखे प्यारी, आकुल लोचन देखूँ!
भर-भर लोचन देखूँ प्यारी, भर-भर लोचन देखूँ!!

तुम आओ तो रस से पूरित अंगूरी तन देखूँ,
लाल-गुलाब कपोलों के मैं रसमय चुम्बन देखूँ;
मेरा भाग्य उठाती ऊपर लज्जित चितवन देखूँ;
भर-भर लोचन देखूँ प्यारी, भर-भर लोचन देखूँ!!

मेरी प्यारी सबसे सुन्दर

मेरी प्यारी सबसे सुन्दर।
दिन से सुन्दर, निशि से सुन्दर,
सुन्दरतर रवि-शशि से सुन्दर,
मेरी प्यारी सबसे सुन्दर!

सुन्दर उडुगन, जुगनू सुन्दर,
रति-तट-तड़ित-प्रणय कटि सुन्दर,
निश्चय दीप-शिखा शुचि सुन्दर,
मेरी प्यारी सबसे सुन्दर।

सुन्दर तन चम्पक, मन सुन्दर,
सुरारक्त-मुख-पाटल सुन्दर,
सुरभित गुंजित सरसिज सुन्दर,
मेरी प्यारी सबसे सुन्दर।

तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ ?

तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ?
सागर को देखो तो सजनी, लहर-लहर लहराता
हहर-हहर स्वर-रव संकुल कर, मचल-मचल उफनाता;
जब कि विभा को देख नहीं यह वारिधि प्यार छिपाता
तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ?

रंग-बिरंगे सुन्दर-सुन्दर सरस सुमन सरसाते,
आभूषण बन बल्लरियों के मधुर-मधुर मुस्काते;
जबकि वायु की लोल लहर से पुष्प न गन्ध छिपाते
तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ?

आज वसन्त विकास-हास है, उपवन हैं सरसीले;
फुल्ल आम की डाल, और वन सरसों से हैं पीले;

जबकि प्रेम के पागल कोकिल गीत प्रेम के गाते
तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ?

जिन कलियों ने प्रेम छिपाया वे झूठी कहलार्यीं;
जिन नदियों ने स्नेह छिपाया वे सूखी अकुलार्यीं;
जिन आँखों ने प्रीति छिपायी, वे रोई, पछतार्यीं;
तब क्यों मैं ही प्रेम छिपाऊँ?

प्यारी जल में चाँद चमकता

प्यारी! जल में चाँद चमकता,
सरिता के हत्तल पर अपना सिर धर हँसता!
अपने वक्षस्थल पर, जिसपर वस्त्र न टिकता,
मुझको भी रहने दो अपना सिर धर हँसता!
प्यारी! जल में चाँद चमकता!!

मैं तुम पर जाऊँ बलिहारी

मैं तुम पर जाऊँ बलिहारी!
मेरे मन में फूल खिला है,
रूप तुम्हारा उसे मिला है,
सौरभ उसकी है मनहारी।

निष्ठुर शिशिर समीर चलेगा,
जब पतझर का भार भरेगा,
तब प्यारी! सौगन्ध तुम्हारी—
उसे नहीं मैं आने दूँगा;
फूल नहीं कुम्हलाने दूँगा;
बन जाऊँगा ढाल तुम्हारी।

मैं तुम पर जाऊँ बलिहारी ॥

प्रिये! न ऐसा करना

प्रिये! न ऐसा करना—
दीपशिखा—सा सजग रूप ले
मुझसे विलग सिहरना!
मैं सीखूँगा जलना,
स्नेह—अनल में पलना!

प्रिये! न ऐसा करना—
अलकों की उन्मत्त ऊर्मि में
मेरे बिना निखरना;
मैं चाहूँगा बहना,
अर्घ्य—पुष्प—सा रहना!

प्रिये! न ऐसा करना—
अंगूरी—यौवन अंगों का
मद ऊषा में भरना।
मैं पी लूँगा, हँसना;
मुझको प्रियतम कहना।

प्रिये! न ऐसा करना!

मधुमयि! ऐसा करना

मधुमयि! ऐसा करना—
चढ़कर चित में श्री पदरज—सी
चित से नहीं उतरना!
जीवन, जीवन करना;
मुझको यौवन वरना!

मधुमयि! ऐसा करना
श्रद्धा, शील, विनय की निधि में

मेरे संग विचरना!
मधु बरसाना, हँसना;
कीर्ति, पुण्य से लसना।

मधुमयि! ऐसा करना—
वहीं क्षितिज के पार मही-सी
वैभवमयी ठहरना!
हृदय-गगन से लगना,
चिर-चुम्बन में पगना!
मधुमयि! ऐसा करना!!

प्यारी फूल गुलाब फूलता

प्यारी, फूल गुलाब फूलता,
भँवरा लोभी सुमुख चूमता!
प्यारी, प्रेम-गुलाब फूलता
पागल प्रेमी सुमुख चूमता!!
प्यारी, फूल-गुलाब महकता
मधुकर-हृदय सुवासित रहता!
प्यारी, प्रेम-गुलाब महकता
प्रियतम हृदय सुवासित रहता!!
प्यारी, फूल-गुलाब सूखता,
मधुकर वन-वन विकल घूमता!
प्यारी, प्रेम-गुलाब सूखता,
प्रियतम वन-वन विकल घूमता!!

एक तुम्हीं को पाया मैंने

एक तुम्हीं को पाया मैंने एक तुम्हीं को पाया।
विश्व मंच पर दिग्बधुओं ने हेम-हास फैलाया;

थिरक-थिरककर ऊषा ने छविनृत्य अभंग दिखाया!
रूप-राशि का जब शुभ दर्शन सकल सृष्टि ने पाया,
एक तुम्हारा ही तो दर्शन उस क्षण मैंने पाया।
एक तुम्हीं को पाया मैंने एक तुम्हीं को पाया!

पंचम में स्वर-साधक पिक ने मादक गान सुनाया,
समतल सुथल अतल अन्तस्तल का उल्लास जगाया।
अम्बर-अवनि-बीन ने मुखरित जब सन्देश गुंजाया,
एक तुम्हारा ही आमन्त्रण उस क्षण मैंने पाया।
एक तुम्हीं को पाया मैंने एक तुम्हीं को पाया!!

एक तुम्हीं को पाया मैंने एक तुम्हीं को पाया।
तरुओं के दोलाञ्चल में चल वायु-पुलक लहराया,
मेघ-मोहिनी वल्लरियों के मन का मुकुल खिलाया।
रोम-रोम का आलिंगन जब प्रकृति-प्रिया ने पाया,
एक तुम्हारा ही आलिंगन तब तो मैंने पाया।
वन-वन उपवन-उपवन में अब विकसित है मधुमाया,
कली-कली ने गन्ध-अन्ध हो प्रेम-पराग लुटाया।
मधुकर कुल ने यों कलियों का जब प्रिय चुम्बन पाया,
एक तुम्हारा ही तो चुम्बन मैंने उस क्षण पाया।

एक तुम्हीं को पाया मैंने, एक तुम्हीं को पाया॥
इस क्षण अब जब कालरात्रि-कुन्तल का यम-तम छाया,
सुख-सनेह-साहस-सागर का सित सरसिज सकुचाया।
केवल तारक-बालाओं ने चिर चिन्तन विकसाया,
एक तुम्हारी ही स्मृति ने तो जीवन-स्वप्न सजाया॥
एक तुम्हीं को पाया मैंने एक तुम्हीं को पाया।

आह रे, यह अनमिल जीवन

आह रे, यह अनमिल जीवन!

आँख के आँख पास ही पास,
एक के एक पास ही पास;
मिलन पर कब उन दोनों में
मिलन पर कब हम दोनों में?

वियोगी हूँ मैं आठों याम।

एक पल भी न मिलाप ललाम।

हृदय में भार, आँख में अश्रु;

ताप कर-पद में है अविराम!

प्राण, पीड़ित, आकुल।

गरल-सिंचित, व्याकुल!!

रूप-रस-आलिङ्गन-बन्धन,

हास-परिहास, प्रणय, चुम्बन,

भ्रू-भंग, नयन के बान,

कटिनृत्य, अधर-रस-पान,

हो गये आज सतयुग की जैसे बीती बात!

देखता हूँ पल्लव-पुलकित

वसन-वासन्ती युत प्रमुदित,

लता-लज्जित, यौवन-छवि-भार,

भेंटती तरु को पहना हार।

विहग-कूजन नूपुर-रव-सा,

बहाता है प्रेमासव-सा।

निकट निर्झर मृग-शावक-सा

कुलेलें भरता है प्रतिपल।

लूट चाँदी ताराओं की,

सुखी हो गाता है कल-कल!

पवन का है सौरभ से संग।
सुरभि का सुमनों से मद-मेल!
जलज का है भौरों से साथ;
चाँदनी-चन्दा कब अनमेल?

किन्तु रे, यह अनमिल जीवन-
विषम रे, विषधर-सा,
म्लेच्छ की माया-सा अग्राह्य,
क्रुद्ध प्रलयंकर-सा!

कामना करती है चीत्कार!
प्रेम करता है हाहाकार!
इसी आशा में अटके प्राण-
कभी होगा वियोग-संहार!

रूप की राशि प्राण प्यारी।
प्रेम की पूनो अति उत्तम।
लालसा की मधुऋतु सस्मित!
लाज की ऊषा है अनुपम!

देह निर्मल है छवि-दर्पण!
रूप में नव-नव आकर्षण!
बोल में अविरल मधु-वर्षण!
चाल में कोमलता नर्तन!

सरलता की पाञ्चाली-सी,
अधर में उँमगा प्रेम-हिलोर,
यवन सुन्दरता का अपना
नाता आज अनन्त अछोर!

पाप रे, पाप!
पाप रे, पाप!

प्रणय है निबल,
नियम है सबल,

प्रणय है विफल,
 नियम है सफल।
 आह, रे, आह!
 चाहिए मुझको प्रेयसि संग!
 करूँगा बन्धन भंग!
 नियम है सीमा का द्योतक;
 प्रेम-सागर है अगम अथाह!
 नियम अपनेपन से भूषित;
 प्रेम में आत्मदान की साध!
 प्रेम-हरिण-सुकुमार!
 नियम बधिक अनुदार!
 मिलन, प्रणय की पूर्ति,
 विषम-वियोग, अपूर्ति!
 नियम के पिंजड़े में पड़कर,
 प्रेम का कोकिल है अनमन!
 खोल दो द्वार, खोल दो द्वार,
 सुनावे फिर वह मधुर रटन!
 × × ×
 बाढ़ है जब उर-सरित
 प्रेमघन के नीर की,
 भिन्नता मिट जायगी तब,
 शीघ्र इस उस तीर को।

ओ तस्वीर! अरी निर्ममते!

ओ तस्वीर! अरी निर्ममते!
 कुछ तो प्रेयसि! बोल;

मत चुप रह तू, कुछ तो कह दे,
टूटे शब्द अमोल!
देख अनोखी! मेरे उर का
कितना है दुख-भार!
इतना अत्याचार न कर तू,
दिखा हृदय का प्यार!
यों चुपचाप रूठ रहने से
बढ़ता है संताप!
मेरी आहें, मेरी पीड़ा
करतीं, शोक, प्रलाप।
प्रतिपल मुझे रुलाये रहता
कण-कण का अवसाद;
चैन नहीं लेने देता है
जग का करुण विषाद!

तू है मौन, मौन हैं मेरे
रोम-रोम के तार।
तू है मौन, मौन हैं मेरे
चिर सुख के संसार!

व्याकुल है मन, बरस रहा है
इस पर विषम फुहार।
तड़प रहा है देख हृदय में
तेरा ही मधु प्यार!

तू न बोलती,
मुख न खोलती!
कैसा तेरा कोप?

मेरे प्राण सिहर जाते हैं
पा अभाग्य आरोप!

ऊषा आयी, वह ले आयी
करतल में अनुराग।
कमलों से भ्रमरों ने पाया
मादक पीत पराग!
कुछ-कुछ डोली प्राची से आ
शीतल मन्द समीर;
जाग चुका है तन में मेरे
कोई प्रेम-अधीर!
झूम रहे हैं तरु के पल्लव
पी खग का उन्माद;
मेरे ही कौतुक के सम्मुख
मेरा आज प्रमाद।

क्यों नत है तेरा मुख-अम्बुज?
क्यों सोते उद्गार?
तेरे केशों से उलझे हैं
क्यों निशि के तम-तार?
क्यों मँडराता है अधरों पर
निर्जन का सुनसान?
क्या मेरे प्राणों की बस्ती
सूनी हुई अजान?
आँखों में वह भाव नहीं है,
है किसका यह रूप?
क्या सुन्दरता का जग भी है
मेरे ही अनुरूप?
देख रही है किसको गूँगी!
मेरी ओर निहार!

उफ! क्या मेरे दुख का इतना
फीका है मधु-सार?
दृष्टि गड़ी है जिस पर तेरी,
जिसकी इतनी चाह,
मुग्ध उसी पर होकर, कह दे
अपने मुख से 'वाह' !
मेरे जग का मैं समझूँगा
सीमित है विस्तार;
दृष्टि जहाँ पड़ती है तेरी
यह न वहाँ संसार!
और बढ़ा दूँगा मैं इसका
अंचल चारों ओर
हो जाएँगे मेरे-तेरे
दोनों लोक अछोर

मुझको सजनि! निराशा तेरी
करती मुझसे दूर,
करती है मधुपात्र हाथ का
लेकर चकनाचूर!
किन्तु निराशा मेरी लाती
मुझको तेरे पास,
कहती मैं तेरे अधरों का
करूँ पूर्ण विश्वास!
देखूँ कब तू मौन भंगकर
कहती है कुछ बात—
इस जीवन में, या समाधि में,
या तन में अज्ञात?

मुझको तेरा साथ चाहिए

मुझको तेरा साथ चाहिए!

रात-रात भर औ' दिन-दिन भर,
एक-एक पल औ' छिन-छिन पर,
तेरा ही तो साथ चाहिए!

बज उठता है साँसों का स्वर,
प्रेम-तान से भीतर-बाहर;
मन तकता पुतली में आकर,
मैं सुख पाता अंग लगाकर;
मुझको तेरा साथ चाहिए!

सीख लिया सपने में आना

सीख लिया सपने में आना!
एकाकी भूले जीवन से
इतना पागल प्रेम बताना!
कोमलतम बाहों में कसकर
चूम-चूमकर मुझे जगाना!
प्रिय वसन्त के वक्षस्थल की
पुष्पराशि से मुझे सजाना!
बहुत सुखी हूँ तुमसे प्यारी!
हिलमिल सारी रात गँवाना!
सीख लिया सपने में आना!

तेरी तो सुधि आती प्यारी

तेरी तो सुधि आती प्यारी, वैसे ही सुधि आती
जैसे नन्दनवन की मृग को रह-रहकर सुधि आती।
दूब-दबाए, गात मिलाए, मृगी जहाँ मदमाती
देख रसीले स्मर-लोचन से स्नेह-सिन्धु उफनाती।

तेरी तो सुधि आती प्यारी, वैसे ही सुधि आती—
जैसे तरुवर वल्लरियों को ऋतुपति की सुधि आती,
प्रिय प्रवाल-पल्लव-पलकों पर आकुलता मँडराती,
मदिर मधुर मुकुलों की आँखें स्वप्न चकित जग जातीं ।
तेरी तो सुधि आती प्यारी, वैसे ही सुधि आती
जैसे गिरि, सरि, अम्बर, भू को परिणय की सुधि आती,
उतर व्योम से बरस-बरस रस प्यार अपार पिलाती—
विमल चाँदनी रूपाञ्चल में सबको हृदय लगाती !
तेरी तो सुधि आती प्यारी, वैसे ही सुधि आती
जैसे दीपक के जलने की भावुक बेला आती—
अन्तस्तल के चिर प्रकाश में दीपशिखा मुस्काती
ऊषा-चरण-कमल के दल पर अमर काव्य विकसाती !

वही वही वह मेरी प्यारी

वही-वही वह मेरी प्यारी
जो है मन में वेणु बजाती,
मेरा जीवन-मेरे सुख-दुख,
मेरी कविता, मधुर बनाती ।

अरे वहाँ तारों की कोई....

अरे, वहाँ तारों की कोई
होगी अनुपम सुन्दर प्यारी,
जिसे गगन में घेर-घेरकर
झिलमिल करते हैं उजियारी !

मेरा भौंरा नहीं मानता

हँसकर कहा सुमन ने उससे,
मेरा भौंरा नहीं मानता !

वह भी हँसकर सत्वर बोली,
मेरा भौंरा नहीं मानता !

मुझे विदा दो

मुझे विदा दो—
आज, यही नाता है,
प्रिय, वसन्त जाता
आतप आता है ।

मेरे गीतों को तब पढ़ना

मेरे गीतों को तब पढ़ना,
बार-बार पढ़कर फिर रटना,
जब प्रेमी बनकर तुम सीखो:
प्यारी के हित जीना-मरना ।

मैं नारी का प्रेमी

मैं नारी का प्रेमी,
मेरी प्रीत अपावन ।
गन्दी मेरी भावराशि
सब गीत अपावन ॥
नहीं-नहीं-यह रिमझिम, रिमझिम
साजन-सावन-
प्यारी तरुण तड़ित का
करता है आराधन!!

एक तारिका के प्रति

(क)

नील नभ की ओ मनोरम तारिका लघुबाल।
क्यों तुझे भाया सुविस्तृत व्योम का अधिवास?
है वहाँ पर तो सुशोभित चन्द्र-राज्य विशाल,
ज्योत्सना करती अलौकिक रूप का उल्लास;
और अगणित ग्रह, उपग्रह, कान्ति-कौस्तुभवान,
हर्ष के आलोक में जाज्वल्य हैं अविराम!
क्यों वहाँ रहकर कभी होगा तुझे प्रिय ज्ञान!
रूप की तेरे मंदिर है मोहनी अभिराम!
तू बनी है एक अवहेलित कुमारी दीन,
अपदस्थ-सी जीवन बिताती, छोड़ती उच्छ्वास;
गात दुर्बल, हो गया सौन्दर्य शोभाहीन,
जर्जरित-विश्रान्त-सा है पुष्प-मुख का हास!
सुन्दरी! नव-वय न देखी, क्या किया यह भूल?
क्यों तुझे भाया बता तो नील नभ का कूल?

(ख)

आह! मेरा प्राण तेरी देखकर यह भूल,
रो रहा है, आँख में आँसू भरे संतप्त!
खिन्न हूँ, तीखा चुभा है वेदना का शूल!
शोक में मेरे हुआ है शोक तेरा व्यक्त!
है विमुख तू मौन है, मुझसे सभी अनजान,
किन्तु तेरे दुख ने मुझको किया स्वीकार!

रात में गाऊँ भला मैं कौन से प्रिय गान?
आज तो व्याकुल व्यथित हूँ प्रेम के स्वर-तार!
फूल भी रोये, अनिल में व्याप्त है संताप!
स्नेह से प्रेरित सरित की भुब्ध है जलधार।
पा गया मैं भी अलौकिक एक चिर अभिशाप-
मैं रहूँगा, तू रहेगी, पर न होगा प्यार!
नील नभ की ओ मनोरम तारिका प्रिय प्राण!
वेदना की यह कहानी है मधुर वरदान!!

यह उदास-सा नीम

यह उदास-सा नीम खड़ा है मन को बिलकुल डाले,
डाल-डाल की बाँह बिछी है, सोते निर्मम छाले!
नहीं झूमता एवर-ग्रीन ले लाल कुसुम के प्याले,
खड़ा हुआ है जैसे-तैसे अपनी साँस सम्हाले!
मेरा छोटा-सा कनेर प्यारा चुपचाप खड़ा है,
आज लड़कपन भूल न जाने क्यों बन गया बड़ा है?
नन्हीं घास, हृदय की प्यारी, मुझसे ही घबराती,
नहीं लिपट कर पाँव चूमती, प्यार नहीं दरसाती!
आती वायु-नहीं गाती है मीठी प्राण-प्रभाती,
जाती है चुपचाप चली यह हम सबसे कतराती!
सोकर मैं बाहर आया था ऊषा का मधु पीने,
जीवन की सच्ची मस्ती में डूब-डूब-डूब कर जीने!
जाने कैसा आज सबेरा? गुम-सुम हैं सब कोई!
यह दुनिया मनहूस बनी है, असली दुनिया खोयी!

महाकाश का यात्री दिनकर

महाकाश का यात्री दिनकर
अस्ताचल की ओट चला,

करके स्वर्ण-विभूषित जगती का
नभ-उन्नत भाल चला।
जीवन-पथ का यात्री मानव,
कालांचल की ओट चला,
करके ध्वंस पराजित जगती का
रज-चुम्बित भाल चला।

नभ की ओर निहार रहा था

नभ की ओर निहार रहा था
सब थे सुप्त विचार
अनायास ही लगा सोचने
यह कह बारम्बार :
है तो बात पुरानी ही पर
क्या कुछ इसका सार
टूट पड़ा करता जो, सहसा
तारा नभ के पार?
बचपन की यों बात और थी
अब तो विकसा ज्ञान,
जान सकूँ शायद यह क्या है
कैसा प्रकृति विधान!

इस उधेड़बुन के चक्कर में
मन था चारों ओर,
आकुलता उत्सुकता का था
कुछ भी ओर न छोर!

इसी समय भूली बातों में
फिर से उठी मरोर,
माँ का कहा याद हो आया

भरकर लोचन-कोर :
'कोई जीव सिधारा जग से
गया स्वर्ग की ओर
राम-राम का पुण्य नाम लो
टूटा बज्र कठोर!'

पूछ-ताछ भी किया न माँ से
मानी सच्ची बात,
देखा जब-जब टूटा तारा
हुआ तभी यह ज्ञात :
कोई जीव सिधारा जग से
अरे आज की रात!
रोम-रोम रोया पीड़ा से,
काँपा मेरा गात,
पहुँचा दायँ हाथ हृदय पर
ज्यों मलने आघात,
बार-बार फिर निकला मुख से
राम-राम अवदात!

अयि, रूपसि अनजान!

अयि, रूपसि अनजान!

कोई कभी, कभी कोई अँग दिखला सुषमावान,
छिप जाती हो बिना दिखाये निज सर्वांग अम्लान!

अयि रूपसि अनजान!

दिखलाती हो अरुणोदय में बिम्बाधर मुस्कान;
संध्या में जावक, रजनी में उडुयुत केश-वितान;
हिमकर में, मैंने अवलोका तव मुख आभावान,
किन्तु, कहाँ उसमें बतलाओ अधर-प्रवाल समान?

अयि रूपसि अनजान!
किस क्षण देखूँगा मैं होकर पुलकित तन-मन-प्राण,
पद-नख से ले घने केश तक तेरा तन छविमान?
अयि रूपसि अनजान!
रंग-रेख हो? तम-प्रकाश हो? कुछ भी सका न जान,
हो जागृत उत्कण्ठा मन की होता यह अनुमान!
अयि रूपसि अनजान!

वह कौन? कहाँ रहता है?

वह कौन? कहाँ रहता है?
जिसके अभाव से प्रेरित
जन नव-नव तन धरता है;
पर जिसकी अकलुष, उज्ज्वल,
पावनतम प्रतिमा निर्मल,
शत-शत कल्पों से अब तक
जग नहीं बना सकता है।
वह कौन? कहाँ रहता है?

जिसकी निरलस इच्छा का
मधुपात्र नहीं भरता है;
जिसमें न स्वाद, सुख, परिमल;
जिसमें न रंग, रस अविरल;
पर समय निरन्तर जिसकी
प्रिय आकांक्षा करता है।
वह कौन? कहाँ रहता है?

जिसके निरुपम मधुवन में
कल-कुसुम-कूल खिलता है,
पर जिसका पुलकित परिणय,

आलिंगन, चुंबन, मधुमय,
मृदु मुकुलों की दुलहिन को
पल एक नहीं मिलता है;
वह कौन? कहाँ रहता है?

विह्वल तरंग-माला में
जो कभी नहीं बँधता है;
जल निधि के तट पर आकर,
यौवन, आसव बरसाकर,
मधु-चन्द्र-चाँदनी पहने
जो ओझल ही रहता है;
वह कौन? कहाँ रहता है?

जिसकी मधु-स्मृति में पागल
पिक प्रेम-गीत कहता है;
वन-वन, उपवन-उपवन में,
तरु-तरु, तृन-तृन, कन-कन में,
स्वर पंचम जो सुन-सुनकर
फिर भी नीरव रहता है;
वह कौन? कहाँ रहता है?

अवसान

यह रात, हृदय की कलुष रात!
काली डाइन सी कलुष रात!
दुर्दम, कराल हरि के समान,
शत-शत फैलाये फन-वितान,
क्रोधित हो, करती है फुंकार।
सहमा-सिसका है जग अपार,
जीवन की छोड़े श्वास-आस;
वह देख रहा निश्चय विनाश।
बहती है विष से बुझी बात,
सत्वर सर-सर कर सरक-वात;
हत से, उदास, निर्वाक, दीन
मूर्छित हो, फैले तरु मलीन,
सौरभ-सुगन्ध के घुटे प्राण;
जग करता है दुर्गन्ध-पान।
बस साँय-साँय ही साँय-साँय,
सर्वत्र नियन्त्रित साँय-साँय!!

मैं सरिता के पुल पर अजान,
रोता, एकाकी क्षुब्ध प्राण!
मैंने देखा है नग्न नृत्य,
पापों से बोझिल धर्म कृत्य;
भूखी आत्माओं का विलाप,
पागल कुत्तों-का-सा प्रलाप,
सुनकर अति करुणाकुल पुकार

जर्जर अंतर से बार-बार
झर-झर गाये हैं अश्रु-गान,
मुखरित करने को म्लान-प्राण।
कितने ही कोमल मृदुल फूल
असमय ही अस्फुट मिले धूल,
खिलते तो कविता का प्रदेश
भर जाते मधु-रस से विशेष।
जग-जीवन से पीड़ित महान्
मैं माँग रहा हूँ शक्तिदान।
पर निर्दय निटुरा काल-रात
कहती है; कर ले आत्मघात!
उफ! आत्मघात! जीवन-विनाश!
यह मैं न करूँगा सर्वनाश!
कैसे जीवन की मिटे भ्रान्ति?
कैसे जीवन को मिले शांति?

लो, प्राची का वह तम-तमाल
हल्का होता, आता सकाल;
तारे होते जाते उदास;
खग-कुल का स्वर-सविता-विलास,
लय-गीत-छन्द में अनायास,
कर जाता है कविता-विकास।
देखो, देखो, भूतल-प्रसार,
व्यापक अम्बर का आर-पार,
नीचे, गंगाजल औ' कछार
अवसित धुँधले तम को उतार
पीड़ा आशंका शोक त्याग,
हल्के हो, पहने रूप-राग

लख बालारुण का जन्मकाल
हो गये सुनहले लाल-लाल !
मैं भी जन्मा था इसी काल,
मेरा भी तो था यही हाल;
वैभव के, सुख के सिंहद्वार,
रत्नाम्बर के कौतुक अपार,
मेरे शिशुमुख की ओर ताक
रह जाते थे सुख से अवाक् !
मेरी प्यारी मुस्कान एक
कर देती थी हर्षातिरेक,
रँग देती थी जीवन हिलोर,
भर देती थी कलरव अथोर !
मैं था मृतकों में एक जीव,
मेरे जीवन से जो सजीव
हो, करते थे अमरत्व पान,
सबभूल जगत का मूढ़ ज्ञान !
मुझमें प्रिय प्रभु की पूर्ण छाप
मृदु-स्मृति में करती थी कलाप !
मेरा प्रिय सस्वर हृदय-वेग,
जग का था सस्वर हृदय-वेग !

पर आज-आज यह स्वप्न-सार !
हो गया सकल सुख क्षार-क्षार !
जीवन है निर्मम कसक पीर,
जो मिटी, न मिटने को अधीर !
क्षत-विक्षत हूँ मैं चूर-चूर,
प्रभु से भी हूँ मैं दूर-दूर,
वह और उधर, रवि का विलास

अनुरंजित जीवन का विकास,
स्वर्णिम किरणों का रंग जाल
छवि का शुचि सस्मित अंतराल
पहले-से ही हैं नव, अमन्द
ज्यों भावुक कवि के अमर छन्द,
जग-जीवन से क्षोभित महान्
मैं माँग रहा हूँ आत्मदान
बस, ठहर-ठहर कुछ क्षण प्रभात
मैं होऊँ तुझमें आत्मसात्
जीवन का तू ही अमर रूप
तू ही मेरी आत्मा अनूप

यह कह, वह बाँहों को पसार,
ज्यों ही पाने को प्रात-प्यार,
रोमांचित हो, काँपा विमुग्ध
फिसले उसके पग शक्ति-क्षुब्ध
छप-सा सरिता में हुआ शोर
फिर शांत, स्निग्ध मिट गया भोर।
दिन का कोल्हू फिर चला खूब,
तिल-तिल मानव पिस चला खूब!

आई संध्या सुन्दर सुवेश
खोले रेशम के स्वर्ण केश
अपनी लज्जा से आप लाल
अग-जग को करती लाल-लाल
पश्चिम प्रदेश का रंग-राग
उसके आनन का है पराग!
तिरछी-मिरछी साधे कतार
ऊँची-नीची बाँधे कतार

घर लौट रहे खग पंख खोल
मीठे-तीखे कुछ शब्द बोल!
सब ओर यही संध्या सुहाग
बिम्बित था प्रतिबिम्बित सुहाग!

हटकर तटिनी-तट से अनेक
हैं जहाँ पेड़, झोंपड़ी एक-
जिसको छूकर वर सांध्यहास
कर देता स्वर्गोपम-निवास,
बस, वहीं एक नव-वय कुमार
मूर्च्छित लेटा है, पलक-भार;
उसका स्वरूप, गन्धर्व-गात
मोहक, मादक है मधुस्नात
अलसायी पलकों में अथाह
डूबा है उसका हतोत्साह
चौड़े माथे का अमित ताप
शीतल है जैसे शमित शाप
दोनों भ्रू पर के क्लान्त-कूल
हो गए एक से शान्त-कूल!
कोमल कपोल पर मृदुल प्यार,
है प्रिय उर पर पीयूष धार
वह लेटा है अविचल शरीर
जैसे वीरों का खंग-धीर
हैं तीन-चार मल्लाह पास
अतिशय विस्मित, मन में उदास
वे ताक रहे हैं बार-बार
वह पलक खोल कब ले निहार?
सहसा वह सिहरा सुघर गात;

उडु का ज्यों सिहरे विधुर गात;
खुल गये लोल लोचन विलोल;
फैली सुख की आतुर किलोल!

वह बोला, यह तो स्वर्ग-देश!
अतिशय सुन्दर है स्वर्ग-देश!
ये देवदूत जो तीन-चार
बैठे हैं मुझको घेर-घार
मैं देख रहा इनमें अनूप
आलोकित अपना आत्मरूप!
मेरे अन्तर के तार-तार
अनुनादित हो प्रत्येक बार,
अब तो करते हैं स्वर विभोर
संगीत अमर है ओर-छोर!

क्षण में कोई रव अनायास
सुन पड़ा भयानक आस-पास
वे काँप गये मल्लाह चार
दौड़े लेने को समाचार
तम में एकाकी एक जीव
था जाग रहा सुख में अतीव;
आया-आया चुपचाप मौन,
वह लख न सका था व्यक्ति कौन?
जिसके आते ही अकस्मात्
अलसाये उसके नयन, गात;
सिरहाने कोई अति विनीत
गाता था मादक मधुर गीत,
सो जा प्यारे मानव! सो जा,
मैं गाती हूँ सुख से सो जा,

सुधि-बुधि सर्वस स्वर में खो जा,
सो जा प्यारे मानव! सो जा!

मेरे केश कुसुम मुसकाते,
पंखुरियों में मधु भर लाते;
तेरी पलकों में छलकाते,
मेरे केश-कुसुम मुसकाते
तूने स्वर्गिक वसुधा देखी,
नर में सुर की प्रतिमा देखी,
आलोकित छवि गरिमा देखी,
तूने स्वर्गिक वसुधा देखी

प्रभु को तेरी आत्मा प्यारी,
नष्ट न होती आत्मा प्यारी,
प्रभु को पाती आत्मा प्यारी,
प्रभु को तेरी आत्मा प्यारी,
सो जा प्यारे मानव! सो जा,
मैं गाती हूँ, सुख से सो जा,
सुधि-बुधि सर्वस स्वर में खो जा,
सो जा प्यारे मानव! सो जा!

मेरा जीवन कवि का जीवन

मेरा जीवन कवि का जीवन!
सकल असत् स्वप्नाविल परिहर
प्रातः सबसे पहले जगकर
करता सत् तत्त्वों का दर्शन!
मेरा जीवन कवि का जीवन!
किरण-निकर वर से आमन्त्रित,

संसृति की वीणा से सस्मित
करता प्रिय छन्दों में वन्दन!
मेरा जीवन कवि का जीवन!
प्रेम-विकल अविरल मधुराधर
ऊषा के मधुराधर पर धर
करता नव जीवन का चुम्बन!
मेरा जीवन कवि का जीवन!
सरल नवल मधु मुकुलों में खिल,
मुदित, भ्रमित, प्रिय भ्रमरों में मिल,
गंधित, गुंजित करता मधुवन!
मेरा जीवन कवि का जीवन!
लहर-लहर को छूकर, कसकर
सागर, सर, सरिता में बसकर,
करता प्रतिपल, प्रतिपल नर्तन!
मेरा जीवन कवि का जीवन!
विधुर-तरुण तरु शिखरों पर चल
लतिकाञ्चल में चंचल-चंचल-
करता साहस-सुख सन्चालन!
मेरा जीवन कवि का जीवन!
नव-नव आशा रस से विकसित,
प्रेम-प्रीति-परिमल से सुरभित,
करता मानव का आलिंगन!

प्रात सुयोग अमोल री!

प्रात सुयोग अमोल री!
प्राची-राग-रँगौली मदिरा श्यामा-सरिते घोल री!

मौन-मुकुल-सम विधुर, विरलतर,
सिकता के प्रिय अधर विरलतर-
पी लें जी भर प्याली-प्याली, ले लें कुंकुम मोल री!
सस्मित, स्वर्णिम-क्रीट-अलंकृत
रश्मि नवोदित स्मर-सर झंकृत
आई श्री कंगन पहिनाने, सित अंबुज कर खोल री!
चूम कुसुम-किसलय-दल-अंचल
मलयज-वात प्रकम्पित प्रतिपल
गंध-द्रव्य-मधुमास भरेगा, लहरा कुन्तल लोल री!
प्रात सुयोग अमोल री!

कोयल

ओ अनुपम तरु-सुरबाला ।

ओ यौवन की मधुशाला ।

ओ रानी गिरि-वन वाली ।

पत्तों के घूँघट वाली ।

तू, गाती जा, हाँ गाती-बस, गाती जा हाँ गाती ।

ओ छोटी-सी छाया-सी ।

ओ प्यारी-सी माया-सी ।

ओ आमों की मुँहबोली ।

तेरी है मीठी बोली ।

मीठी ही तान सुनाती-तू गाती जा, हाँ गाती ।

ओ प्रिय वन-वासिनि सीता ।

ओ वन-पर्वत की गीता ।

ओ करुणा की इक लट-सी

नभ में उड़ते नल-पट-सी ।

विपदा की याद भुलाती-तू गाती जा, हाँ गाती ।

युग-युग से गाती आयी ।

ऐसी पक्की धुन पायी ।

युग-युग तक गाती जा तू ।

ऐसी ही तान लगा तू ।

गीतों से रस बरसाती-तू गाती जा, हाँ गाती ।

इकदम दुनिया को भूला

सुनता हूँ, मन में फूला ।

ओ पागल कोयल! पागल!

मुझको भी कर दे पागल ।

बस पागल प्राण बनाती-तू गाती जा, हाँ गाती ।

दुख ही दुख आये-जाये !

बादल बनकर घहराये !

मैं गाऊँ गाऊँ गाऊँ,

गीतों की तान सुनाऊँ !

धरती को मधुर बनाती-तू गाती जा, हाँ गाती ।

हर तार-तार लहराऊँ,

मधु बार-बार बरसाऊँ;

अग जग को मधुर बनाऊँ,

बस रस ही रस बरसाऊँ,

वन-उपवन में दिन राती-तू गाती जा, हाँ गाती ।

मैं सिंह्रूंगा-झूमूँगा,

बेसुध सुख को चूमूँगा,

जीवन है : कवि की बानी,

तेरी संगीत कहानी,

जीवन-संगीत सुनाती-तू गाती जा, हाँ गाती ।

मैं घूमूँगा केन-किनारे

मैं घूमूँगा केन-किनारे,

यों ही जैसे आज घूमता,

लहर-लहर के साथ झूमता,

संध्या के प्रिय अधर चूमता,

दुनिया के दुख-द्वन्द्व बिसारे,

मैं घूमूँगा केन-किनारे,

यों ही जैसे आज घूमता,

छाया-छल का साथ छूटता,

झूठा वैभव स्वप्न टूटता,
ये घोंघे अनमोल बटोरे,
मैं घूमूँगा केन किनारे!

बैठा हूँ इस केन किनारे!

बैठा हूँ इस केन किनारे!
दोनों हाथों में रेती है,
नीचे, अगल-बगल रेती है,
होड़ राज्य-श्री से लेती है,
मोद मुझे रेती देती है
रेती पर ही पाँव पसारे,
बैठा हूँ इस केन किनारे
धीरे-धीरे जल बहता है
सुख की मृदु थपकी लहता है
बड़ी मधुर कविता कहता है
नभ जिस पर बिम्बित रहता है
मैं भी उस पर तन-मन वारे
बैठा हूँ इस केन किनारे।
प्रकृति-पिया की माँग चमकती
चटुल मछलियाँ उछल चमकतीं
बगुलों की प्रिय पाँत चमकती
चाँदी जैसी रेत दमकती
मैं भी उज्ज्वल भाग्य निखारे
बैठा हूँ इस केन किनारे!

नींद के बादल

प्यारे-प्यारे नींद के बादल
शाम को सोने के सागर से उठकर ऊपर,
चोर-हवा की साँसों पर चल,
अनजानी सुनसान डगर से,
जहाँ न धौरी गाय गयी है,
जहाँ न नृत्यातुर बालाओं के पद-कोमल-कमल पड़े हैं,
जहाँ न बच्चों ने उमंग से धूल उड़ाई,
जहाँ न युवकों ने होली की धूम मचायी-
खेतों, मैदानों, झीलों से होते-होते,
उनकी आत्माओं को अपने संग में लेकर,
गिरि पर चढ़कर,
सरिताओं के साथ उतरकर,
वन-विटपों की-
सब ऋतुओं की कथा-कहानी सुनते-सुनते,
सब की छाया मन में रखकर,
मन्थर गति से कविता पीते,
पशुओं की चमकीली आँखें लखते-लखते,
आते हैं नयनों के भीतर,
छा जाते हैं चुपके-चुपके तन पर, मन पर।

प्यारे-प्यारे नींद के बादल
फिर करते हैं अपना जादू-
बड़ी सुन्दरी लहर न जाने किस सागर की,
गहने पहने,

सम्मुख आकर,
पुलकाकुल बाँहों में भरकर
गले लगा लेती है मुझको !
जाने किन-किन वनफूलों की
जिनको मैंने कभी न देखा,
कभी न सूँघा, कभी न तोड़ा—
सुन्दरतम कोमलतम रानी,
आकर मुझ पर बलि जाती है,
मादक भीनी खुशबू से मन छा जाती है ।

सतरंगी किरनों का दल भी
मुकुलों पर चलकर आता है,
रंग, लास, उल्लास, हास बरसा जाता है ।
मेरी मूर्च्छित असित कल्पना
फिर चिर जीवित हो जाती है
बहुरंगी उसकी प्रिय दुनिया
नाच-नाच उठती है मनहर ।
चन्दन वन की महक बरस पड़ती है बरबस !
मैं सुगन्ध से भारान्वित हो झुक जाता हूँ
जैसे एक अचेत बहुत फूला तरु वन का ।

अनायास चकमक चकमक छवि बिछ जाती है ।
चन्द्र, चाँदनी दोनों मिलकर मुसकाते हैं,
सुधा-सुधा ही बरसाते हैं ।
मैं अतृप्त भी तृप्त सुधा से हो जाता हूँ ॥
मेरे लिए पलंग बिछता है !

दास-दासियाँ प्रकटित होती हैं सेवा को !
मैं अधमूँदी आँखों से देखा करता हूँ।
मधुर रागिनी छिड़ जाती है किन्नरियों की,
जग जाते हैं राग, रूप साकार ग्रहणकर,
नूपूर ध्वनि गूँजा करती है,
मैं मधु में डूबा रहता हूँ,
एक एक कर,
छोटे-बड़े अनूप छन्द सब,
ललित कलित मृदु पदावली के-
अमर काव्य के सर्ग सुनाते,
आत्मा में कलरव करते हैं,
लोक लोक में मुझे घुमाने ले जाते हैं,
तरह तरह के दृश्य देखता मैं रहता हूँ,
बड़ी अनोखी सृष्टि काव्य की मैं पाता हूँ,
वहीं कहीं मैं खो जाता हूँ।

प्यारे-प्यारे नींद के बादल,
नहीं हटाये हटते पल भर,
छाये ही छाये रहते हैं।
घन्टे, मिनट, सेकन्ड रात के, एक बड़ा कारवाँ बनाकर
आते हैं लम्बी कतार में,
लेकिन रुकते नहीं, चले जाते हैं आगे-आगे
छायाओं से लिपटे, सिमटे, चुपके-चुपके,
नहीं जगाते छूते मुझको !
मैं गृहिणी की प्रिय बाँहों में
सोया ही सोया रहता हूँ-
अपना दिल उसके दिल के भीतर पहुँचाकर,

जिससे मेरे दिल की धड़कन
मुझको करे न चंचल क्षण भर।
लेकिन प्यारे नींद के बादल,
लाल सबेरा होते-होते,
सब होने लगते हैं ओझल!
जाने कैसे और कहाँ से
बन्द आँख को बन्द छोड़कर,
मुझे चकितकर—
चुपके-चुपके चल देते हैं,
जैसे कभी नहीं आये थे।

प्यारे-प्यारे नींद के बादल
दुर्लभ ही रहते हैं दिन में
जैसे संकोची मृदु हास!

लोक और आलोक

देशवासियों से

तुम्हीं देश हो
और तुम्हीं उसकी आत्मा हो
यदि तुमने यह बात न जानी
और न मानी
तो अपने से और देश से तुम अजान हो;
अपनी आत्मा के स्वरूप से भिन्न नहीं हो;
शायद तुम ऐसे मनुष्य हो,
जिसकी सत्ता
ईंट और पत्थर-सी जड़ है,
अथवा कोई भूत-प्रेत हो,
जिसका पुनरोद्धार कठिन है।
इसीलिए तो मैं कहता हूँ,
यदि मनुष्य हो,
तो स्वदेश के अंग बनो तुम,
कोटिजनों के साथ जियो तुम,
खेत जोतकर अन्न उगाओ,
रोटी खाओ और खिलाओ,
फैक्टरियों में कलें चलाओ,
वस्त्र और वस्तुएँ बनाओ,
धातु बनो, लोहा बन जाओ,
कंकरीट को सड़क बनाओ,
आओ, जाओ,
जीवन का क्रम सुभग बनाओ;
काम पड़े तो लड़ो लड़ाई,

चूको नहीं करो अगुआई ।
लिख सकते हो,
अथवा कागज रँग सकते हो
तो अपनी प्रेरक कृतियों से
मार्मिक वाणी से, रंगों से
नित्य नये इन्सान जगाओ ।
गा सकते हो
तो अपने गीतों के द्वारा,
युग के चेतन स्वर बन जाओ,
गाँव, नगर घर, वन में छाओ,
ढोल बजाओ,
धूम मचाओ ।
तब तुम निश्चय जान सकोगे :
तुम हिमगिरि हो,
अपनी लम्बी बाँह पसारे तुम्हीं खड़ो हो,
तुम्हीं देश के संरक्षक हो
और तुम्हारा ही मस्तक है नभ को छूता,
तुम गंगा हो,
तुम यमुना हो,
तुम्हीं भूमि सींचा करते हो,
तुम्हीं हरे-से-हरे खेत हो,
गेहूँ, चावल और चना हो;
तुम काशी हो,
दिल्ली और प्रयागराज हो;
तुम्हीं वहीं जीते-जगते हो,
जीवन को व्यंजित करते हो;
तुम्हीं वहाँ के नाटकघर हो—
जहाँ खेल खेले जाते हैं युगों-युगों से,

तुम्हीं ताज हो,
करुणा के अनुपम आँसू हो;
तुम्हीं दूर दक्षिण के मन्दिर,
मानव के धार्मिक विचार हो;
प्रस्तर की परमार्थ कला हो,
तुम्हीं अजन्ता और एलोरा,
तुम्हीं मूर्तियाँ मनोमोहिनी;
तुम्हीं राम हो, तुम्हीं श्याम हो,
तुम्हीं पाण्डु-सुत,
तुम्हीं बुद्ध हो शान्ति प्रवर्तक;
तुम अशोक हो हृदय-हृदय के;
तुम्हीं रचयिता मेघदूत के कालिदास हो;
तुम्हीं सूर, तुलसी महान हो;
तुम कबीर हो,
प्रेमचन्द, बंकिम, रवीन्द्र हो,
और निराला सूर्यकान्त हो,
तुम्हीं करोड़ों के कर-पद हो;
और साम्य, विश्वास, कर्म हो,
तुम वाणी हो कण्ठ-कण्ठ की,
तुम भाषा हो प्रान्त-प्रान्त की;
तुम्हीं देश हो,
और देश की प्रिय आत्मा हो;
वर्तमान के सजग पहरुये,
और भविष्य की प्रतिमा हो;
तुम अजेय हो;
और देश की तरह अमर हो!

हम

हम लेखक हैं,
कथाकार हैं,
हम जीवन के भाष्यकार हैं,
हम कवि हैं जनवादी!
चंद्र, सूर,
तुलसी, कबीर के,
संतों के, हरिचन्द्र वीर के
हम वंशज बड़भागी!
प्रिय भारत की
परम्परा के,
जीवन की संस्कृति-सत्ता के,
हम कर्मठ युगवादी!
हम स्रष्टा हैं,
श्रम-शासन के,
मुदमंगल के उत्पादन के,
हम दृष्टा हितवादी!
भूत, भविष्यत्,
वर्तमान के
समता के शाश्वत विधान के
हम हैं मानववादी!
हम कवि हैं जनवादी!

मेरा समर्पण

तीन हाथ का यह मेरा तन;
सागर-धरती-
और गगन-सा यह मेरा मन;
मेरे शोणित का यह तर्पण,
सब मेरा;
मेरे जीवन का एक-एक प्रन
मातृभूमि के लिए समर्पण!!

आज मुझे सुख है अगाधतम!
हमीं देश को
बना रहे हैं अब स्वर्गोपम,
रंग-रूप देकर सर्वोत्तम।
सुन्दर है
यह निर्माणों का नया उपक्रम
कोटि भुजाओं का यह विक्रम!!

कौन फूल है ऐसा मनहर,
नहीं खिलेगा
जो मेरी धरती के उर पर?
ऊसर भी अब होगा उर्वर,
उपजेगा-
गेहूँ, जौ, चावल, चना, टमाटर,
सोने के सुख का संवत्सर!!

में

गगन का नहीं, मैं मही का निवासी,
वृथा व्यक्ति कहते मुझे हैं प्रवासी ।
नरक का नहीं, मैं मही का विलासी,
असन की, वसन की हरूँगा उदासी ॥

प्रलय का नहीं, मैं कला का कलापी,
वृथा व्यक्ति कहते मुझे हैं प्रलापी ।
भजन का नहीं, मैं भुजों का प्रतापी,
भुजों से सृजन को करूँगा अमापी ॥

कामना

हाँ, इस पर भी,
रोते-रोते
जीने पर भी;
जीते-जीते
फिर गाने का-
मुसकाने का
मैं अभिलाषी!!

घोर उदासी,-
यह गलफाँसी
पाने पर भी,
हँसते-हँसते
फिर जीने का,
रस पीने का
मैं अभिलाषी!!

काया मेरी-
रात अँधेरी
होने पर भी,
सूरज ऐसा
उग आने का
दिन लाने का
मैं अभिलाषी!!

लेखकों से

हाथ में तलवार लेकर डर रहे हो,
लेखनी-बिजली लिये तुम मर रहे हो!
आग हो, ज्वालामुखी हो, सो रहे हो,
ओस के हिम आँसुओं को बो रहे हो!!

सूर्य हो, लेकिन छिपे हो बादलों में;
क्रान्ति हो, लेकिन पले हो पायलों में!
सिन्धु हो, लेकिन नहीं तूफान लाते;
चाँद की मुसकान में हो प्रान पाते!!

तीर हो,, तुम तोड़ सकते हो शिलाएँ,
मूक मन गाओ नहीं अपनी व्यथाएँ!
मेघ-गर्जन है तुम्हारी भावना में,
किन्तु मूर्च्छित हो अँधेरी कामना में!!

गान हो, लेकिन नहीं तम गूँजते हो,
रात के काले हृदय में डूबते हो!
नाग हो, लेकिन पिटारी में पड़े हो,
काढ़कर फन तुम नहीं अरि से लड़े हो!!

पंख हो, नभ में नहीं तुम फैलते हो,
आँधियों में तुम नहीं उड़ तैरते हो!
चोट खाते हो, नहीं ललकारते हो,
इंकलाबी घन नहीं तुम मारते हो!!

मौन बैठे यंत्रणा सब सह रहे हो,
मौत की मुरदा कहानी कह रहे हो!
ऐ दधीचो! शक्ति का डंका बजाओ,
शांति का उल्लासमय सूरज उगाओ!!

लाल सोने का सबेरा चमचमाओ!
लेखनी के लोक में आलोक लाओ!!

में

शक्ति मेरी बाहु में है,
शक्ति मेरी लेखनी में,
बाहु से, निज लेखनी से
तोड़ दूँगा मैं शिलाएँ!

जागरण है प्राण मेरा,
क्रांति मेरी जीवनी है,
जागरण से क्रांति से मैं
घनघना दूँगा दिशाएँ!

भाव हैं तूफान भारी,
शब्द मेरे आँधियाँ हैं,
आँधियों-तूफान द्वारा
मैं उड़ा दूँगा घटाएँ!

रो रही है आज मिट्टी,
फूल की प्रिय पाँत रोती,
चन्द्रमा है ओस रोता,
मैं हँसा दूँगा दिशाएँ!

जनता के सिपाही से

तू हिमालय की शिला है,
तोड़ दूँगा वक्ष दृढ़तर!
लौह की घन मुष्टिका से
तोड़ दूँगा मौन गुरुतर!

साधना तेरी कठिन है,
क्रान्ति मेरी भी कठिनतर!
क्रान्ति से मैं साधना को,
चूर कर दूँगा रगड़कर!

तू अगति में मुक्ति पाता,
मैं प्रगति का शक्ति-निर्झर!
शक्ति-निर्झर से अगति को,
मेट दूँगा मैं सहजतर!

आज जनता के सिपाही,
दौड़ जनता है विकलतर!
मूर्च्छना तो है पराजय,
चेतना है जीत प्रियतर!

झंडा नहीं ऊपर उठा है

जिन्दगी थककर यहाँ पर चूर है,
हड्डियों का शेर हारा भूख से मजबूर है;
हाथ-पाँवों में जहाजी लंगरों का भार है;
साँस का दरियाव जमकर बर्फ है;
गर्म छाती की धधकती आग
मोमी शीत-सी निष्प्राण है;
रक्त में लिपटा कफन है मृत्यु का।
देह की चमड़ी अँधेरी रात है,
जो छिपाये है वसन्ती फूल-फल की प्रेरणाएँ।
प्रेम का आकाश रूखे बाल में उलझा पड़ा है।
सभ्यता के और संस्कृति के दिवाकर की प्रतीक्षा
मौन है-निस्पन्द है ज्यों प्रेत की छाया बड़ी-सी!
जागरण का क्रान्तिदर्शी साहसी मनु-रूप मानव,
अर्थ के पैशाचिकों से पद-दलित है-
भूमि पर लुण्ठित पड़ा है!!
क्या हुआ यदि आज अपने देश भाई,
हाथ में झंडा उठाये घूमते हैं!
वास्तव में तो अभी झंडा नहीं ऊपर उठा है,
वह अभी नीचे पड़ा है;
भूमि से लुण्ठित उठे, तब वह उठेगा,
और फिर कोई झुकाने से रहेगा!!

110 का अभियुक्त

अभियुक्त 110 का,
बलवान, स्वस्थ,
प्यारी धरती का शक्ति-पुत्र,
चट्टानी छातीवाला,
है खड़ा खम्भ-सा आँधी में
डिप्टी साहब के आगे।

नौकरशाही के गुरगे,
अफसरशाही के मुरगे,
भू-कर उगाहने वाले,
दल्लाल दुष्ट पैसे के,
आना-गंडा के जमींदार;
लाला साहब पटवारी जी
धरती माता के कुलांगार-
कटु दुःशासन के धूर्तराज;
थाने का चौकीदार नीच,
जो वफादार है, द्वारपाल
इस चरमर करते शासन का;
बनिया जो मालिक है धन का,
जो नफाखोर बन चूस रहा
जन-जन का सारा रक्त-राग;
पंडित (धार्मिक कोढ़ी गँवार);
मादक चीजों का विक्रेता

जो नाशराज का है कलार;
आये थे सब के सब गवाह।
झूठी गंगा-तुलसी लेकर,
अन्तर से बोले एक-एक :
“यह चोर, नकबजन आदी है,
इसकी ऐसी ही शोहरत है,
यह चोर टिकाता है घर में।”

अभियुक्त क्रोध से पागल हो,
कर चला जिरह उन लोगों से,
जैसे गयंद चीरे कदली का वन-का-वन,
जैसे जनता सामन्तीगढ़ को करे ध्वस्त;
जैसे समुद्र की बड़ी लहर
मारे छापा,
छोटे जहाज को करे त्रस्त!

दे सका न उत्तर जमींदार,
वह व्यर्थ रहा करता टर-टर!
पटवारी जी भी गये बिगड़,
जैसे बिगड़े कोई मोटर।
चौकीदारी खा गयी हार,
जो सदा जीतती आयी थी।
बनिया रह गया छटंकी भर,
मन, सेर, पसेरी सब भूली।
पंडित खर के अवतार हुए!
विक्रेता मादक चीजों का
बक गया नशे में अर्र-बर्र!

कर चुका जिरह तब यों बोला :

“मैं चोर नहीं या सेंधमार।
मैं नहीं डकैतों का साथी!
धिक है, इन कोढ़ी कुत्तों को!
ये झूठ गवाही देते हैं!
ये नहीं चाहते : मैं पनपूँ,
इनको मेट्टूँ,
जनता का जमघट मैं बाँधूँ,
इनको तोडूँ;
नौकरशाही—
अफसरशाही का सिर फोडूँ;
दुःशासन को कमजोर करूँ;
इनकी रोटी,
इनकी रोजी,
इनसे हरकर सबको दे दूँ;
इससे ये मेरे बैरी हैं।”

इस पर भी डिप्टी साहब ने,
अफसरशाही के नायक ने—
नौकरशाही की स्याही से,
लिख दिये चटक काले अक्षर :
“यह भूमि-पुत्र है अपराधी।
यह चोर नकबजन है आदी।
यह चोर टिकाता है घर में
इससे समाज को खतरा है।”

चिट्ठी का व्यंग्य

ऐसा लगता है जैसे मैं बन्द पड़ा हूँ;
इस समाज में कील जड़ा हूँ;
मेरा मस्तक टूट गया है;
मेरा कोई पता-ठिकाना नहीं रहा है।
कह सकते हो : मैं जीवित हूँ,
खा लेता हूँ, गा लेता हूँ, रो लेता हूँ।

लेकिन खाना, गाना, रोना—
यह जीवन के चिह्न नहीं हैं!
और बहुत-कुछ मुझे चाहिए;
वही नहीं है,

यही मृत्यु है!!

लो यह देखो : यही हाथ हैं!
मैंने इनसे कलम चलायी,
ग्रन्थ लिखाये;
मैंने इनकी नसें तनाई;
लेकिन जितना जो कुछ लिखते
टके सेर में बिक जाता है;
ये बेचारे घिस जाते हैं!
कैसे कहूँ कि ये जीते हैं, मैं जीता हूँ?

लो यह देखो : मेरी आँखें
पलक खोलकर देखा करतीं,
बड़े-बड़े ग्रन्थों की पढ़तीं,

छोटे-छोटे अक्षर चरतीं;
लेकिन फिर भी,
जब भविष्य की ओर झाँकतीं,
दीवारों से टकराती हैं;
पुतली खोले मर जाती हैं!
कैसे कहूँ कि ये जीती हैं, मैं जीता हूँ?

लो यह देखो : मेरे दिल को!
बेचारे ने लड़ी लड़ाई;
हर आफत से टक्कर खाई;
उछला, कूदा, धड़-धड़ धड़का,
कभी-कभी बादल-सा कड़का;
लेकिन फिर भी,
दण्ड-दमन ने छुरी चलाई,
और खून बह गया कि जैसे ठण्डा पानी!
कैसे कहूँ कि यह जीता है, मैं जीता हूँ?

अब बोलो; फिर क्यों कहते हो :
मैं जीता हूँ,
मेरा भी कुछ ठौर, ठिकाना, और पता है?
सच है, मुझको
रोज डाकिया दे जाता है मेरी चिट्ठी,
जिस पर मेरा पता ठिकाना सब होता है!
लेकिन भाई!
यही व्यंग्य है इस चिट्ठी का :
पता-ठिकाना तो होता है मरे व्यक्ति का!

वह जन मारे नहीं मरेगा

जो जीवन की धूल चाटकर बड़ा हुआ है,
तूफानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है,
जिसने सोने को खोदा, लोहा मोड़ा है,
जो रवि के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा,
नहीं मरेगा!!

जो जीवन की आग जलाकर आग बना है,
फौलादी पंजे फैलाये नाग बना है,
जिसने शोषण को तोड़ा, शासन मोड़ा है,
जो युग के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा,
नहीं मरेगा!!

पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा

पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा।
वह पत्थर जो राह रोककर पड़ा हुआ है,
जो न टूटने के घमण्ड में अड़ा हुआ है,
जो महान फैले पहाड़ की
अंधकार से भरी गुफा का,
एक बड़ा भारी टुकड़ा है,
जिसके कोई आँख नहीं है,
जो कि बज्र बहरा है हरदम,
हाथ-पाँव से जो विरक्त है,
जो कि खौलते हुए खून में,
एक बार भी नहीं तिरा है,
जो कि प्रार्थना और प्रेम से—
एक इन्च भी नहीं डिगा है,
जिसकी ठोकर खाते-खाते
इन्सानों की टुकड़ी टूटी,
जो केवल जीवन-विरोध है—
मार्ग रोक है,
उस पर अपना लोहा मारो,
बारम्बार तड़ातड़ मारो,
जिससे वह जल्दी से टूटे!
आशा उसके टुकड़े लेकर,
उनसे ऊँचे भवन उठाए,
वर्तमान की साफ-सलोनी सड़क बनाए,
मानव जिस पर चलता जाये,
चलता जाये,
मंगल की मंजिल पा जाये!!

छोटे हाथ

छोटे हाथ

सबेरा होते

लाल कमल से खिल उठते हैं।

करनी करने को उत्सुक हो,

धूप हवा में हिल उठते हैं ॥

छोटे हाथ

नहीं रुकते हैं,

और नहीं धीरज धरते हैं।

जड़ को चेतन,

पानी को पय,

मिट्टी को सोना करते हैं ॥

छोटे हाथ

किसानी करते—

बीज नये बोया करते हैं।

आने वाले वैभव के दिन,

उँगली से टोया करते हैं ॥

फूलों के गुच्छे के गुच्छे,

डालों पर पाला करते हैं।

छोटे-से-छोटे पत्ते का,

मकड़ी का जाला हरते हैं ॥

छोटे हाथ

परिश्रम करते,
ईंटों पर ईंटें धरते हैं।
मधुमक्खी से तन्मय होकर,
मधुकोषों से घर रचते हैं ॥
हर घर में आशा रहती है,
आशा के बच्चे पलते हैं।
मुद-मंगल के, नव जीवन के,
जागृति के बाजे बजते हैं ॥

छोटे हाथ,

दही मथते हैं,
मथते-मथते कब थकते हैं।
थकते भी हैं तो मथते हैं,
हरदम जीवन को मथते हैं ॥
जीवन के उत्तम तत्वों का,
मोती-सा मक्खन गहते हैं।
मक्खन मिश्री साथ मिलाकर,
बच्चों के मुख में रखते हैं ॥

छोटे हाथ,

निडर रहते हैं,
जोखिम में घूमा करते हैं।
नागों को नाथा करते हैं,
काँटों को चूमा करते हैं ॥
बारूदी बन्दूकें तानें,
पशुओं को मारा करते हैं।
तूफानी सागर से सबको,

साहस से तारा करते हैं ॥

छोटे हाथ,
गुनी-ग्यानी हैं,
मौलक ग्रन्थों को रचते हैं ।
जीवन के साथी ग्रन्थों का
हिन्दी में उल्था करते हैं ॥
भाषा को झंकृत करते हैं,
जीवन को चित्रित करते हैं ।
मानव की सुन्दरतम कृतियाँ
मानव को अर्पित करते हैं ॥

दोषी हाथ

हाथ जो

चट्टान को
तोड़े नहीं,
वह टूट जाये,

लौह को

मोड़े नहीं,

सौ तार को

जोड़े नहीं,
वह टूट जाये!

पेड़

मौनमना मिट्टी की पीड़ा;
दीना, हीना, गात-मलीना.
वल्कल-वसना,
कुण्ठित, कृपणा,
मैदानों में पुष्प-विहीना,
खिन्न खड़ी है,
छिन्न छली-सी!

कौन पिकी है जो आयेगी,
रात दिवस फिर जो गायेगी;
मैदानों का मस्त तराना,
फूलों के ओठों का गाना,
रस ऋतुमति का बरसायेगी,
इन पेड़ों पर?

पुकार

आँधी के झूले पर झूलो।
आग बबूला बनकर फूलो॥
 कुरबानी करने को झूमो।
 लाल सबरे का मुँह चूमो॥
ऐ इन्सानो! ओस न चाटो।
अपने हाथों पर्वत काटो॥
 पय की नदियों को लहराओ।
 जीवन की कटु प्यास बुझाओ॥
रोटी तुमको राम न देगा।
वेद तुम्हारा काम न देगा॥
 ओ रोटी के लिए लड़ेगा।
 वह रोटी को आप वरेगा॥

पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा

इसी जन्म में,
इस जीवन में,
हमको तुमको मान मिलेगा ।
गीतों की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा ॥

क्लेश जहाँ है,
फूल खिलेगा,
हमको तुमको त्रान मिलेगा ।
फूलों की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा ।

दीप बुझे हैं,
जिन आँखों के,
इन आँखों को ज्ञान मिलेगा ।
विद्या की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा ॥

मैं कहता हूँ,
फिर कहता हूँ,
हमको तुमको प्रान मिलेगा ।
मोरों-सा नर्तन करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा ।

मैंने तुम्हें जाना नहीं

मैंने तुम्हें जाना नहीं
यद्यपि पहचाना नहीं
तो भी सदा
आँखों में अंजन-सा
आँजा तुम्हें
आठों याम
अंगों में आनंद-सा
माँजा तुम्हें
आठों याम ।
मैंने तुम्हें पाया नहीं
यद्यपि अपनाया नहीं
तो भी सदा
शूलों में फूलों-सा
पाया तुम्हें
आठों याम
ओठों से गीतों-सा
गाया तुम्हें
आठों याम ।
कैसे कहूँ कैसी रही
मेरी नाव कैसी बही
जो भी हुआ
जैसा भी जीवन में
होता रहा
आठों याम
चाहा अनचाहा सब
मैंने सहा
आठों याम ।

झूमा हर मैदान पवन में झूमा

झूमा हर मैदान पवन में झूमा,
जैसे हाथी मद का माता,
झूल उतारे,
कदली-वन में झूमा,
धूप पवन में झूमा!

झूमा हिन्दुस्तान, पवन में झूमा!!

झूमा हर इन्सान सृजन में झूमा,
जैसे झण्डा नभ को छूता,
मुक्ति पसारे,
जन-जीवन में झूमा,
साम्य-सृजन में झूमा!

झूमा हिन्दुस्तान सृजन में झूमा!!

जल भी अपना, थल भी अपना

(1)

जल भी अपना, थल भी अपना,
और गगन भी अपना है,
कर्म, कला, कौशल के स्वामी—
जन का प्रण भी अपना है,
इसीलिए जल की छाती पर
मानव पोत चलायेंगे,
लहरों की दीवार ढहाते
कल कूलों को जायेंगे,
दूर पड़े देशों की चीजें
आवश्यक पहुँचाएँगे,
और वहाँ से उनकी चीजें
अपने घर ले आयेंगे,
यह भी युग के
शांति-समर्थक
सागर का भी सपना है,
जल पर पोत चलाने वाले मानव का भी सपना है।

(2)

जल भी अपना, थल भी अपना,
और गगन भी अपना है,
कर्म, कला, कौशल के स्वामी—
जन का प्रण भी अपना है,
इसीलिए थल की छाती पर

मानव अन्न उगायेंगे,
फल-फूलों को देने वाले
नूतन बाग लगायेंगे,
जनता के प्रासाद मनोरम
सुन्दर सदन बनायेंगे,
काव्य, कला, नाटक, नर्तन के
पंकज-भवन बनायेंगे,
यह ही युग के
शांति-समर्थक
भूतल का भी सपना है
भू पर स्वर्ग सजाने वाले मानव का भी सपना है।

(3)

जल भी अपना, थल भी अपना,
और गगन भी अपना है,
कर्म, कला, कौशल के स्वामी—
जन का प्रण भी अपना है,
इसीलिए नभ के आँगन में
मानव उड़कर जायेंगे,
नील रहस्यों के प्रान्तर में
पंखों पर मँडरायेंगे,
आलोकित लोकों की छवि से
आत्मा को नहलायेंगे,
ज्ञान और विज्ञान प्रकृति के
सत्यों से अपनायेंगे,
यह ही युग के,
शांति-समर्थक
अम्बर का भी सपना है,
यह ही नभ पर उड़ने वाले मानव का भी सपना है।

बादल राग

श्याम के उपमान बादल,
आग, पानी से बने द्युतिवान बादल,
जल न बरसे—
आज बरसे बान बादल !

भूमि के वरदान बादल,
सींचने को-नये, उपजे धान, बादल,
जल न बरसे—
आज बरसे प्रान बादल !

कर्म के कल्याण बादल,
लोक संस्कृति के नवल क्रियमान बादल,
जल न बरसे—
आज बरसे गान बादल !

चंद्र-रात्रि

चाँद की गागर निशा के शीश पर है ।
चाँदनी का रौप्य आँचल भूमि पर है ॥
रूप है रसदार, रम्भा नृत्यरत है ।
मुग्ध है संसार सारा स्वप्नवत है ॥

सदैव

रश्मियाँ रँगती रहेंगी—
और थल रँगता रहेगा ।
भूमि की चित्रांगदा से,
आदमी मिलता रहेगा ॥
कोकिला गाती रहेगी—
और जल बजता रहेगा ।
प्रात की देवांगना से
आदमी मिलता रहेगा ॥
खेतियाँ हँसती रहेंगी—
और फल पकता रहेगा ।
उर्वरा विशम्भरा से
आदमी पलता रहेगा ॥
आदमी संसार को,
मुद-मोद से मढ़ता रहेगा ॥

विधाता से

धुएँ की डगर में,
विधाता! न जाओ!
धरा की डगर में,
चलो चमचमाओ!!
भयंकर गगन है,
भयावह लगन है,
तुम्हें भी रुदन है,
हमें भी रुदन है,
मगन मस्त चोला
बनो औ' बनाओ!
दियों की दिवाली
हियों में जलाओ!!

नया मुक्त मानव युगांतर करेगा

न रोके रुकेगा,

न मारे मरेगा,

नया मुक्त मानव

दिशांतर करेगा !

जहाँ धूल-धरती सिसकती पड़ी है,

जहाँ आँसुओं की बरसती झड़ी है,

जहाँ लाट खल्लाट खूनी गड़ी है,

जहाँ मृत्यु-मीनार ऊँची खड़ी है,

वहाँ वह रहेगा,

दुखों को सहेगा,

पियेगा गरल और हँसता जियेगा,

करोड़ों हृदय में कमल-सा खिलेगा,

नये कर्म के गीत गाता मिलेगा,

न काटे कटेगा,

न मारे मरेगा !

नया मुक्त मानव युगान्तर करेगा !!

मूर्च्छना और चेतना

मैं तुम्हें पहचानता हूँ,
शाम को तुम रोज टीले पर पहुँचकर
डूबता सूरज निरखती हो युगों से
और घर को लौटती हो डगमगाती
रात का तम तोम लेकर;
तुम हमारी मूर्च्छना हो!!

मैं तुम्हें पहचानता हूँ,
प्रात को तुम रोज टीले पर पहुँचकर
सूर्य उगता देखती हो लालसा से
और घर को लौटती हो दमदमाती
रश्मियों की आग लेकर;
तुम हमारी चेतना हो।

केन-किनारे

सोने का रवि डूब गया है केन किनारे,
नीले जल में खोज रहे हैं नन्हें तारे ।
चट्टानों ने देखा लेकिन एक न बोलीं,
ज्यों की त्यों निस्पन्द रहीं, वे एक न डोलीं ॥
वायु तैरती रही केन का नीला पानी,
अनुबुझ ही रह गयी अजानी मर्म कहानी ।
अंधकार भी गिरा और क्षण-क्षण गहराया,
तारों ने गम्भीर कार्य को कठिन बताया ॥
सारी रात सकल तारों ने पानी छाना,
केन नदी का छोर न कोई रहा अजाना ।
सोने का रवि रहा रात में पूरा डूबा,
हारे और थके तारों का मन भी ऊबा ॥
एक एककर निष्प्रभ होकर सभी सितारे,
केन किनारा छोड़ चले, गृह लोक सिधारे ।
आई ऐसे में तब सुन्दर उषा कुमारी,
सोने का घट लिए शीश पर ज्यों पनिहारी ॥
सोने के सूरज ने फिर से स्वर्ण लुटाया,
केन नदी का जल लज्जा से अब मुस्काया ।
दौड़ा रंग शिलाखण्डों में संज्ञा आई,
बहते पानी के चुम्बन ने आग लगायी ।
तेज हुई तलवार धूप की चमकी धारा,
काट चली अवसन्न धरा का कूल किनारा ॥
रोक सका है कौन प्रवाहित युग का पानी,
आदिकाल से काट रहा है तट चट्टानी ।

केन मनुष्यों के जीवन की है पथगामी,
 बूँद-बूँद है रक्त-स्वेद-सा इसका नामी ॥
 भूरागढ़ का किला सुनाता है यह गाथा,
 ऊँचे सूरज से ऊँचा है जन का माथा ।
 दोनों ओर हरे खेतों का दाना दाना
 आशा का बुनता रहता है ताना-बाना ॥
 दूर खड़ा टुनटुनिया पर्वत पास बुलाता,
 केन नदी की बाँह पकड़ने को ललचाता ।
 चौमासे में चढ़ी जवानी में मदमाती,
 केन नदी इठलाती गाती मिलने आती ॥
 बम-भोले की पूजा में जल-फूल चढ़ाती
 लहरों से पहरों तक मंत्रोच्चार कराती ॥
 कर्णवती फिर लौट किनारे पर आ जाती,
 आँचल में वरदान लिये शिव का लहराती
 पहना कब उसने फूलों का कोई गहना,
 सीखा कब उसने बन में रानी सा रहना ॥
 गहना है उसके जीवन का गति से बहना
 सीखा है उसने श्रम धारा बनकर रहना ॥
 वीरों ने जब मुक्त मही को स्वीय बनाया,
 सामंतों ने प्रिय धरती पर त्रास बसाया,
 केन नदी को तब भी कोई जीत न पाया,
 उसकी धारा का पथ कोई रोक न पाया ॥
 उसने पय से प्यार किया है, ममता की है,
 आँसू से भीगे मानव को दृढ़ता दी है ।
 केन नदी कहती है मेरा पानी पी लो
 'नीलकंठ' से मेरे बाँदावासी जी लो ॥
 काटो कल की चट्टानों को, तोड़ो कारा,
 जल्दी-जल्दी वर्तमान की मोड़ो धारा ।
 सूरज डूबा किन्तु उदय हो भानु तुम्हारा,
 गौरव से मण्डित हो युग का सानु तुम्हारा ॥

मेरा देश

मेरा देश गगनचुम्बी शिखरों का घर है,
उत्तर के बलवान पहरुये की चौड़ी बाँहों का घर है,
तरुओं के अनगिन कुनबों का कुसुमित घर है,
पल्लव-पुलकित-हरियाली का सस्मित घर है !
मेरा देश,
वृहत् वक्षस्थल,
उपजाऊ धरती का घर है,
गेहूँ, धान, चने का घर है,
गन्ना, रुई, तिली, सरसों, अलसी का घर है,
अति उत्तम खेती का घर है ।
मेरा देश, महापुरुषों की आत्माओं का प्यारा घर है,
श्रमजीवी के निर्माणों का सुन्दर घर है,
इसके पैरों पर सागर भी नतमस्तक है ।
मेरा देश, सफल गायक है,
शाम-सबरे रागिनियों के स्वर झरते हैं,
किरनों के पक्षी गाते हैं ।
मेरा देश, सफल वादक है,
तरु के पात, कमल के शतदल बज उठते हैं,
और हवा को झनकाते हैं !
मेरा देश, कुशल नर्तक है,
मोरों के पखने फैलाये वह नाचा करता है वन में ।
मेरा देश खगों की प्यारी क्रीड़ाओं का मनहर घर है ।
मेरा देश, सरित सागर की बजती लहरों का भी घर है ।

नीले कमलों, पीले कमलों, अरुणारे कमलों का घर है ।
मेरा देश, रसों से सींचा,
रागों से अनुरागित घर है;
सूरज, चाँद, सितारों से आलोकित घर है ।
मेरा देश, कृषक का घर है,
हल, हँसिया का, औजारों का, श्रम का घर है;
ताजमहल, मन्दिर, मस्जिद का,
काव्य, कला, कौशल का घर है ।
मेरा देश, अमर आशा का,
अभिलाषा का कंचन घर है ।
मेरा देश, नयन का तारा,
जीवन की ज्वाला का घर है ।
इसके हित में मेरा हित है,
मेरे हित में इसका हित है,
मैंने इसको, इसने मुझको नित पाला है ।

विचार-कण

प्रेम-पत्र जो कमल-पत्र पर लिखा गया था
वह धरती की शकुन्तला का अमर काव्य है;
उसे आज भी हम पढ़ते हैं उसी चाव से,
यद्यपि सदियों ने है उस पर धूल चढ़ाई।
श्रेष्ठ कर्म का लेख लिखा जो श्रमदानी ने
गाँव-गाँव में, नगर-नगर में, श्रम-प्रस्वेद से
वही आज भी हम लिखते हैं उसी चाव से,
यद्यपि सदियों ने है उसकी कांति मिटायी।

शांति का गीत

रण के राग,

मरण के गाने,

हरण-हार के त्रस्त तराने,

लोग न गायें बन दीवाने !

श्रम के शूर,

समय के स्वामी,

अमर प्यार के पूर्ण प्रकामी,

शांति-कपोत उड़ायें नामी !

पूँजीपति और श्रमजीवी

पूँजीपति अपने बेटे को,
बेहद काला दिल देता है,
गद्दी पर बैठे रहने को,
भारी-भरकम तन देता है,

सिरहाने रखकर सोने को,
दिन में पैसा ठग लेने को,
रोकड़-खाते सब देता है,
गरदन काट कलम देता है,

काली मसि से काली करनी-
करने का अवसर देता है,
जब तक जीता है, रहता है,
शोषण की शिक्षा देता है,

पूँजीपति अपने बेटे को,
धन देता, दौलत देता है,
रति को भी शरमाने वाली,
रूपवती औरत देता है

जाने कितना-कितना अवगुन
पूँजीपति सुत को देता है ।
वह अपने को और जगत को
बेटे को धोखा देता है ॥

श्रमजीवी अपने बेटे को,
पर उपकारी दिल देता है,
मेहनत करने को जीने को,
हाथों में हल, लोहे का घन,
पावों में हाथी की चालें;
अविजित छाती, ऊँचे कन्धे,
हर आफत से लड़ जाने को,
गति देता है, बल देता है।

श्रमजीवी अपने बेटे को,
टूटी कुटिया,
टूटी खटिया,
लोहे का तसला देता है,
बहुतायत चिथड़े देता है,
जब तक जीता है—रहता है,
उत्पादन की मति देता है;
आशा की खेती करने को
खेतों की धरती देता है;
घर का भार उठाने वाली,
श्रमजीवी घरनी देता है।
मरने को वह मर जाता है,
लेकिन जीवन दे जाता है।
श्रमजीवी अपने बेटे की
गोटिल हँसिया दे जाता है।

सत्य

सूरज चमका,

किन्तु न अपना भूतल चमका ।

यह सूरज की नहीं, हमारी हार है,

और हमारे भुजवीरों की हार है ॥

सूरज डूबा,

किन्तु न अपना भूतल डूबा ।

यह सूरज का, नहीं हमारा अस्त है,

और नहीं यह भुजवीरों का अस्त है ॥

हार न मानो,

और न हारो, जीना जानो ।

वह जीवन की आन हमारी शान है,

और हमारे भुजवीरों की प्रान है ॥

श्रम

खो सकता है
मेरा तेरा
रत्ती-रत्ती जोड़ा सोना।
हो सकता है
पूर्ण असम्भव
का भी पूरा सम्भव होना ॥
किन्तु नहीं श्रम
मेरा तेरा
इन हाथों का खो सकता है।
इनके द्वारा
कर्म असम्भव
पूरा सम्भव हो सकता है ॥
हो सकता है
मेरा तेरा
जन्म प्रदाता रो सकता है।
हो सकता है
मेरा तेरा
भाग्य, विधाता सो सकता है ॥
किन्तु नहीं श्रम
मेरा तेरा
शक्ति-प्रदाता रो सकता है।
और नहीं श्रम
मेरा तेरा
राष्ट्र विधाता सो सकता है ॥

किसान से

जल्दी-जल्दी हाँक किसनवा !
बैलों को हरियाये जा ।
युग की पैनी लौह कुसी को
'भुई' में खूब गड़ाये जा ॥

पुरखों के हड्डी के हल को,
आगे आज बढ़ाये जा ।
वैभव के सूने खेतों की
छाती चीर दिखाये जा ॥

बीजों के धारण करने की,
पूरी साध जमाये जा ।
आगामी सन्तति के हित में,
कुड़ की राह बनाये जा ॥

अपना प्यारा खून पसीना,
सौ-सौ बार चुआये जा ।
आजादी की हर तड़पन को,
बारम्बार जिलाये जा ॥

अपनी कुरिया की चिनगी से
सब में आग लगाये जा ।
जर्जर दुनिया के ढाँचे को,

‘भभ’ ‘भभ’ आज जलाये जा ॥
शोषण की प्रत्येक प्रथा का,
अँधियर गहन मिटाये जा ।
नये जनम का नया उजाला,
धरती पर बरसाये जा ॥

गाँव-नगर, बे-घर वालों के,
लाखों-लाख बसाये जा ।
मेहनत वालों के रहने को,
ऊँचे गेह उठाये जा ॥

हल, हँसिया का और हथौड़ा-
का परचम लहराये जा ।
अब अपनी सरकार बनाकर,
जीवन में मुसकाये जा ॥

सूरदास की जयन्ती के अवसर पर

(1)

सूरदास के जन्म दिवस का समारोह है,
गाँव-गाँव में नगर-नगर में नवोल्लास है ।
हिन्दी के जन-कंठ 'सूर' के बोल बोलते,
अनुपमेय यह हिन्दी कविता का विकास है ॥
शब्दों का लालित्य, भाव-व्यंजन अजेय है,
कवि की वाणी में अब भी रस है मिठास है ।
महाकाल भी हार गया है सूरदास से,
जनता के जीवन में कवि का अमर वास है ॥

(2)

हम अपने कर्मों के कारण आप तुच्छ हैं,
सूरदास की कविता के कारण महान हैं ।
एक गीत भी गा लेते हैं यदि विभोर हो,
तत्क्षण हम कर लेते रस का मधुर पान हैं ।
हर हँसते बालक में हमको कृष्ण दीखते,
और हमारे गाँव हमें गोकुल समान हैं ।
हम राधा का रूप नारियों में निहारते,
कोयल की तानों में सुनते वेणु तान हैं ॥

(3)

हम इतने निरुपाय नहीं जितने कृतघ्न हैं,
सूरदास की ओर आज भी उदासीन हैं ।

नित्य छापते हैं अनेक निष्प्राण पुस्तकें,
किन्तु छापते नहीं लक्षपद समीचीन हैं ॥
जीर्ण पत्र पर छपा सूरसागर कलंक है,
सूरदास की प्रिय प्रतिमा का तिरस्कार है ।
स्वर्णाक्षर में छपा सूरसागर मयंक है,
सूरदास की प्रिय प्रतिमा का पुरस्कार है ॥

निराला के प्रति

(1)

यह हमारी शान और जिन्दगी की शान है,
तुम हमारे साथ और हम तुम्हारे साथ हैं ।
यह हमारा मान और जिन्दगी का मान है,
तुम हमारे हाथ और हम तुम्हारे हाथ हैं ॥

(2)

यह हमारी शान और जिन्दगी की शान है,
तुम हमारे मूर्तिकार हम तुम्हारी मूर्ति हैं ।
यह हमारा मान और जिन्दगी का मान है,
तुम हमारे कीर्तिकार हम तुम्हारी कीर्ति हैं ॥

(3)

यह हमारी शान और जिन्दगी की शान है,
तुम हमारे सूर्य और हम तुम्हारी आग हैं ।
यह हमारा मान और जिन्दगी का मान है,
तुम हमारे नाद और हम तुम्हारे राग हैं ॥

आज अभी आँखों से

चाँदनी के पर किसी ने काट डाले

चाँदनी के पर किसी ने काट डाले,
और वह आकाश से उतरी धरा पर रो रही है;
रूप, पर्वत पर पड़ा है राख बनकर,
एक भी चट्टान की प्रतिभा न चमकी;
वायु के गज-अश्व की यात्रा रुकी है;
दीर्घ देही पेड़ भी गूँगे खड़े हैं;
घोंसलों में पंख वाले खग अचानक सो रहे हैं;
ताल का जल-व्याल भी निष्कम्प है;
कुञ्ज का कल्लोल कुण्ठाग्रस्त है;
देश की यह दुर्दशा करुणाजनक है!

आज प्यार के पर भारी हैं

आज प्यार के पर भारी हैं
कलाकार के;
दीप मंद हैं दिग्बधुओं के
रत्नहार के
छन्द क्षीण हैं स्वर-समुद्र के
गीतकार के;
अंग-भंग हैं देश काल के
नृत्यकार के।

जिऊँगा लिखूँगा

जिऊँगा लिखूँगा

कि मैं जिन्दगी को
तुम्हारे लिए और अपने लिए भी,
अनूठी मिली एक निधि मानता हूँ;
कि मैं लेखनी को
हिमालय-हृदय और सागर-हृदय की
सती पार्वती औ' रमा मानता हूँ।

जिऊँगा लिखूँगा

कि मैं आदमी को
सृजन के रथों और युग के रथों का,
सुखों का महासारथी मानता हूँ;
कि मैं लेखनी को
अग्नि के अधर और विद्युत् अधर की
प्रबल प्राण की बाँसुरी मानता हूँ।

जिऊँगा लिखूँगा

कि जो ढह गया है,
समुन्नत नहीं जो यहाँ रह गया है,
उसे प्रेम से-क्षेम से मैं उठाऊँ;
कि जो रह गया है,
प्रखर धार में जो नहीं बह गया है,
उसे शक्ति से और श्रम से बढ़ाऊँ!

बल विपुल से

बल विपुल से
भरे उर से,
अग्नि-ओज समान निकले;
बान जैसे गान निकले;
असुर हारे
समर, सुर से!

झींगुर की आवाज

झींगुर की आवाज,
अँधेरे के मरघट में,
तेज धार तलवार सरीखी,
लोहे की दीवार काटती;
जीवन को निर्बन्ध बनाकर,
फिर पौरुष को बल देती है
और विवशता हर लेती है!

झींगुर की आवाज
सबेरे खो जाती है;
लेकिन झाँझ-
दिवस की बजने लग जाती है;
और उजाले की हलचल में
फौलादी इन्सान तोड़ता है चट्टानें!

आत्मा का लघु दीपक

स्तब्ध, शांत,
आसन्न शिलाओं के परिकर से
परिच्छन्न,
यह मेरी आत्मा का लघु दीपक,
पाषाणी परिवेश
भेदता हुआ अभी तक,
आभासित करता है आभा
अभ्यन्तर से।

बेले के फूल

बेले के फूल नहीं भेंट में मुझे मिले,
यद्यपि वह रूप-राग-गन्ध को लिये खिले,
अन्य को मिले,
किन्तु हृदय-हार में नहीं गुँथे मुझे मिले!

बाँहों के कूल नहीं केलि में मुझे मिले,
यद्यपि वह केलि-से-कलोल से भरे हिले,
अन्य को मिले;
किन्तु एक बार भी न भूल से मुझे मिले!

हम लघु दीपों के समान

हम लघु दीपों के समान ही जले ज्योति ले,
और ज्योति से ज्योति मिलाकर रहे जागते;
क्षण-क्षण के संशय-संभ्रम जो मिले सामने
वे हम सब से पराभूत हो रहे भागते;
अमानिशा के अंधकार के अन्तराल में,
हम सुषमा के प्रमुदित सपने रह पालते;
बुझने से पहले, प्रयाण करने से पहले,
सुभागमन हम सूर्योदय का रहे साजते।

निराला और हम

स्वर समय के विभव भर के,
दहे दव में, दिये तुमने;
नदी-नद-से अमृत-मधु के
भरे भव में, पिये हमने;
अमर तुम हो-अगर कविता-
अमर हम हैं-लिये सपने;
मरण में भी हृदय झंकृत
शीश उन्नत किये अपने।

चिरजीवी यह पवन प्रकंपित

चिरजीवी यह पवन प्रकम्पित, पूर्ण अगोचर,
यौवन के उद्दाम वेग से उन्मद होकर,
मदपायी की तरह चाल चल रहा निरन्तर,
अवनी की आकुल अलकों से उलझ उलझकर,
साँसें लेता हुआ, सृष्टि को साँसें देता,
अगम अजानी-ऊँचाई गिरि की पा लेता;
और हिमावृत खड़े पुरातन के शरीर को,
नूतन की तरुणाई पहनाता अधीर हो;
मौन निवेदन करते बीजों को बन्धन से,
मुक्त बनाता है जीवन के अनुकम्पन से;
गह्वर गर्तों के तमान्ध में गहरे जाकर,
द्रुततर बाहर ले आता है निर्झर भास्वर;
शीतांगी सोयी सरिताओं को अँकोरता,
संविद संश्रय के परिशीलन से झकोरता;
लहरों की बाँहें विहार में दोलित करता,
जल से जन्मे हुए नृत्य से मोहित करता!

माटी का वह श्याम हरित तन तरुवर

माटी का वह श्याम हरित तन तरुवर
माटी का यह श्याम-हरित तन-तरुवर !
इस पर बैठी नीले रंग की चिड़िया !
गाती है नीले सागर का गाना !
मैं इस गाने में रहता हूँ डूबा,
दुनिया ऊबी, मैं तो कभी न ऊबा !

निर्मल पानी

निर्मल पानी
पड़ा भूमि पर,
सहयात्री से कुचल गया है,
जैसे मेरा
हृदय
तुम्हारी
निर्ममता से कुचल गया है ।

एक कली

एक कली ऐसी होती है
जो अन्तस को छू लेती है
स्वयं आप ही;
और गंध से
भर देती है स्वयं आप ही,
चाहे कोई रूप न माँगे,
गन्ध न माँगे,
तुम ऐसी ही एक कली हो!

कामिनी हो

कामिनी हो,
कामिनी का फूल
हो तुम
चूमने दो,
चूमने का फूल
हो तुम!

मेरे मन का सुआ

मेरे मन का सुआ घुमक्कड़ बागीचों का,
हरी डाल पर नहीं, टूँठ पर आ बैठा है,
जैसे पत्ता एक बचा हो गिर जाने से
पतझर में जो बोध कराता है सावन का,
हरियाली जब फूट निकलती है पेड़ों से
बूढ़े वन में भी तरुणाई की उमंग से।
क्यों बैठा है? क्या बिसूरता सुधि में खोया?
नहीं जानता है दुनिया का पण्डित कोई।
उसके पंख हरे पत्ते हैं नहीं पेड़ के;
वह सावन है बाहर से, भीतर से पतझर।

डाल दे दो मुझे अपनी

डाल दे दो मुझे अपनी
जहाँ छोटी लगी पत्ती की तरह हिलता रहूँ मैं,
और जीवित बाँह में हिलता रहूँ मैं
हर हवा के हौसले में—होश में जीता रहूँ मैं
धूप सूरज की गरम से भी गरम पीता रहूँ मैं
जुगनुओं की आग पतले ओठ से छूता रहूँ मैं
और मछली की तरह रस-रूप में डूबा रहूँ मैं
डाल दे दो मुझे अपनी
बाँह दे दो मुझे अपनी।

कल कमीज में बटन नहीं थे

हे मेरी तुम!
कल कमीज में बटन नहीं थे;
कुरता देखा तो आगे से फटा हुआ था,
धोती में कुछ दाग पड़े थे;
बक्स और अलमारी देखी,
नहीं एक भी मिला तौलिया,
मैंने एक रुमाल निकाला
वह था मैला;
सोपकेस में सोप नहीं था;
एक बूँद भी तेल नहीं था;
कंघा परसों टूट चुका था;
मेजपोश पर धूल जमी थी;
पुस्तक पर प्याला बैठा था;
कापी पर औँधा गिलास था;
पैसे की डिबिया में पैसा एक नहीं था;
आलू और अनाज खतम था;
लालटेन अन्धी जलती थी;
हाय राम! मेरी आफत थी;
अब बोलो तुम कब आओगी,
घर सँवारने?

हे मेरी तुम मेघ मालिनी

हे मेरी तुम मेघ-मालिनी !
कब तुम अपने अतल नील के
अतल सिन्धु से बाहर आकर,
वाष्प-श्वास की अँगड़ाई ले,
गहन-गगन में
सजल साँवली छा जाओगी
और प्यार की
जल-फुहार-सी आ जाओगी
इस धरती पर मुझे भेंटने।

मैं गया हूँ डूब

मैं गया हूँ डूब
इतना डूब
तेरे बाहुओं में,
लोचनों में,
कुन्तलों में,
गिरि गया है डूब
जितना
सिन्धु में सम्पूर्ण
सदियों पूर्व
और अब भी
मग्न है बेऊब !

नहीं बिल्कुल नहीं

नहीं, बिल्कुल नहीं,
तुमसे कुछ नहीं मैं कह रहा;
चुप बहुत मैं बह रहा
जैसे नदी—
जैसे हवा;
और यह तन ढह रहा
जैसे किनारा—
और तट का पेड़।

मौन से भी मौन

मौन से भी मौन
इतना मौन हूँ मैं,
मौन जितना हो न पाया
मेरु का पाषाण,
और सोये
दीप का बलिदान!
काश
यह भी मौन मेरा
और होता मौन—
और इसका ज्ञान मुझको
कुछ न होता!
एक मैं भी
जी रहा इन्सान हूँ!

मैं तारे-सा टूट गया था

मैं तारे-सा टूट गया था तुम्हें छोड़कर;
और चला था उन आँखों से आँसू बनकर
जिन आँखों से तुमने मुझको मुग्ध किया था,
जैसे मैं कोई राही था बिना दिये का,
अंधकार में भटक-भटककर खो जाने को।

आँख से औ' अँगुलियों से

आँख से औ' अँगुलियों से, ओठ से
फूल छूकर छू लिया मैंने तुम्हें
और तब से मैं तुम्हारा हो गया।
आज भी तुम फूल हो मेरा छुआ;
आज भी मैं गन्ध हूँ उस फूल की,
और उसका रंग हूँ, सौन्दर्य हूँ!

सस्ता है भगवान

सस्ता है भगवान
भजन से वह मिलता है
सस्ता है ईमान
दान से वह मिलता है
सस्ता है शैतान
कुमति से वह मिलता है
सस्ता है अपमान
कुमति से वह मिलता है
सस्ता है सम्मान
गधे से वह मिलता है
मँहगा है तो नाज
कठिनता से मिलता है
डेढ़ सेर में आज
मोल गेहूँ बिकता है।

मैं अयाचित पुष्प हूँ

मैं अयाचित
पुष्प हूँ, प्राकृत सुवासित;
तोड़ लो
चाहे न तोड़ो;
सूँघ लो
चाहे न सूँघो;
चूम लो
चाहे न चूमो;
मैं खिला हूँ,
हर्ष की मैं भेंट हूँ
आलोक को!

तुम्हें देखने को लालायित

तुम्हें देखने को लालायित
मैं उन आँखों की चितवन हूँ
जिनको मैंने शरदागम में
उड़ा दिया है खंजन जैसा।
नहीं जानता; कहाँ मिलोगी?
उनको कैसे? किस प्रदेश में?
किस छवि में? किस वय में?
लेकिन जब भी जिस प्रदेश में
जहाँ मिलोगी जिस बानक में
वे तुमको जी भर देखेंगी
और हर्ष वह होगा मुझको,
चाँद देखकर जो सागर को
आदि काल से अब तक होता!

झील के ठहराव की निर्गूज

झील के ठहराव की निर्गूज
खींचती है मुझे
जैसे डोर,
मेरी जिन्दगी का जोर कम है,
और है कमजोर;
खिंचता जा रहा हूँ
मैं उसी की ओर;
डूबने में
नहीं कोई कसर-कोर!

न आना, तुम, न आना

न आना, तुम, न आना
मेरे पास,
मेरे प्रवाह में बहने
न आना, तुम, न आना।
तुम!.....तुम!
शायद डूब जाओ तुम—
मुझमें,
मैं हूँ क्षिप्र धारा!

मौन सलोना गोरा मुखड़ा

मौन सलोना गोरा मुखड़ा
जिसको मैंने कल देखा था
चकित आँख से,
वह आकाशी नीलपत्र पर
खिला कमल था
अभिनव-संविद;
वह मुझको
रस-रूप दे गया
छिपते-छिपते!

जिसने भी देख लिये

जिसने भी देख लिये
उसके वे मौन भरे मुखर नयन
उसने ही भाष्यहीन भाषा के
गूढ़ अर्थ जान लिये
और वही मुग्ध हुआ
मौन मुखर आँखों पर।

श्यामकाय

श्यामकाय

प्रभविष्णु मेघ जो प्राकृत नट है,
धीर, वीर, गम्भीर, और निःशंक निपट है,

महाभूत

उस पूर्ण पुरुष से विद्युत-वनिता

हेर-फेर मुख, लिपटी-छूटी, क्षण-क्षण चकितता ।

मैं चलते में भूल गया था

मैं चलते में भूल गया था तुम्हें चूमना :
अपने होठों से सनेह का चिह्न छोड़ना :
प्यासी पंखुरियों पर जीभर रस उँडेलना :
बाँहों के व्याकुल-छन्दों से तुम्हें बाँधना ।

गुलमेंहदी

मेघों ने इसको सावन में जीभर सींचा,
जड़ से फुनगी तक जीवन से हरा किया है;
यह गुलमेंहदी अब जवान हो फूल उठी है,
लाल खिले, दहके फूलों की माला पहने;
इतने सुन्दर फूल नहीं खिलते गालों में
जितने सुन्दर फूल खिले हैं अबकी इसमें;
यह सुर-सुन्दरियों से सुन्दर गुलमेंहदी है!
इसको मेघों ने अवनी ने मुझे दिया है!!

परिशिष्ट

कवि केदारनाथ अग्रवाल के मार्च सन् 1947 ईसवी में प्रथम प्रकाशित काव्य-संग्रह 'युग की गंगा' (प्रकाशक- भानुकुमार जैन, मैनेजिंग डायरेक्टर, हिन्दी ज्ञान मंदिर लि० के लिए थापर एण्ड कं० 2/178, शींव रोड, मुंबई-22) की भूमिका-

'युग की गंगा' की भूमिका

प्राक्कथन

वस्तु-जगत की मानसिक प्रक्रिया को कवि अपनी भाषा द्वारा कविता के रूप में व्यक्त करता है। किन्तु मानसिक प्रक्रिया को कवि के व्यक्तित्व से परे समझना भूल होगी। वैसे ही कवि के व्यक्तित्व को भी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से निर्लिप्त मानना भूल होगी। वास्तव में आर्थिक आधार पर ही तो समाज का निर्माण होता है, देश की राजनीति बनती है और संस्कृति का अभ्युदय होता है। जब जैसी अर्थनीति होती है; वैसी ही समाजनीति होती होती है; वैसी ही राजनीति होती है; और वैसी ही संस्कृति और सभ्यता होती है। इसलिए कवि अथवा उसके व्यक्तित्व को अर्थनीति का अंश ही समझना चाहिए। कवि की विचारधारा और भावधारा दोनों ही अर्थनीति से निःसृत होती हैं, इसलिए कवि के व्यक्तित्व को कल्पना लोकवासी देवता का व्यक्तित्व न समझना चाहिए।

भारतीय साहित्य के इतिहास के अध्ययन से इसकी पुष्टि होती है। एक समय ऐसा था, जब भारतवासी प्रकृति पर अपने ज्ञान की विजय नहीं कर सके थे, और वह अपने को धरती का मालिक नहीं समझते थे, तब वह प्रत्येक प्राकृतिक सत्ता को अपने कल्याण के लिए उद्बोधित करते थे। उस समय का सम्पूर्ण काव्य जिज्ञासा का काव्य है, उद्बोधन का काव्य है, वन्दना का काव्य है, और अपनी रक्षा की कामना का वृहत्तर काव्य है। धरती का कलेजा चीरकर जब भारतवासी अन्न उपजाते थे, तब वह उस अन्न को अपने श्रम का अन्न नहीं समझते थे, अपितु उस अन्न को माता धरती की ही देन समझते थे। धरती ईश्वर की थी, इससे अन्न ईश्वर का हुआ। अतः यहीं से ईश्वरीय काव्य की उत्पत्ति सम्भव हुई, जो क्रमशः दार्शनिक और धार्मिक काव्य की परम्परा बनता गया। दर्शन ने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण किये और इसी तरह धर्म ने भी अनेकानेक रूप पाये।

एक समय वह आया, जब मनुष्य ने धरती को अपनी सम्पत्ति समझा। इस अधिकार का परिणाम यह हुआ कि तब मनुष्य की महत्ता उसके कम या अधिक धरती के मालिक होने से मापी जाने लगी। भूमि पर जीवन-निर्वाह करने वाले व्यक्ति उस भूमिपति के दास हो गए। भूमिपति उनसे अपनी धरती जोतवाता था, बीज बोवाता था, फसल कटवाता था; और इन सबके बदले वह उन लूट में बन्दी किये हुए दासों को खाने को अन्न देता था। तब के साहित्य में यहाँ-वहाँ यह मिलता है कि अमुक के पास इतने दास-दासी थे, और अमुक के पास इतने दास-दासी थे। यहाँ से सम्पत्तिवान मनुष्य को काव्य परम्परा का श्रीगणेश होता है।

एक दिन वह आया कि कुछेक शक्तिशाली व्यक्ति अधिक-से-अधिक भूमि के अधिपति हो गए। तब वह अपनी विस्तृत भूमि का समुचित प्रबन्ध न कर सकने लगे। यही नहीं, सबकी फसल का स्वयंमेव उपयोग कर सकना भी असम्भव हो गया। ऐसी दशा में उन्होंने अपने विश्वासी अनुचरों को भूमि देना प्रारम्भ किया; और उन्हें ऐसी भूमि दान देते थे जो उनके काम की न होती थी, और उनकी पहुँच के बाहर होती थी। वे लोग जिन्हें भूमि इस प्रकार मिलती थी, अपने भूमिदाता को प्रत्येक नियत अवसर पर अपनी सेवाओं से उपकृत करते थे। लगान के रूप में अन्न का निर्धारित भाग भी वे लोग अपने भूमिदाता को देते थे। अब दास-प्रथा का अन्त हो गया था। अतः कालान्तर में स्थान-स्थान पर वैयक्तिक पूँजी का संचय होने लगा और मध्यवर्गीय स्वतन्त्र

श्रेणी की रूपरेखा खिंचने लगी। इसके अतिरिक्त भूमिपतियों को अपनी विशाल सेना रखनी पड़ती थी, जिसका व्यय वे ही स्वयं बर्दाश्त करते थे। सेनानायक उच्छृंखल होते थे, साहसिक होते थे, मारने-मरने से न डरते थे; और लूटपाट करके कोष को बढ़ाते थे। और स्वयं भी अधिकांश लूटी सम्पत्ति अपने पास रख लेते थे। यह थी सामन्ती अर्थनीति की संस्कृति। ऐसे में कवि आश्रयदाता की वीरता का बखान करते थे; उसके प्रभुत्व और वैभव का चित्र खींचते थे; उसके सेनापतियों की गाथाओं का वर्णन करते थे; और आंतकित जनता के पतन की कारुणिक अभिव्यक्ति करते थे। और जब राजा इतने बलिष्ठ और समृद्धिशाली होने लगे कि उनके विश्व जीतने के स्वप्न सफल होने लगे और विश्व विजेता की उपाधि से वे विभूषित होने लगे, तब ही सम्भवतः उनमें ईश्वर का आरोप किया गया और उन्हें ईश्वर का प्रतिनिधि भी घोषित किया गया। एक ओर ईश्वर की प्रेरणा का काव्य निर्मित हो रहा था और दूसरी ओर ईश्वर के प्रतिनिधि मानव का काव्य भी तैयार हो रहा था।

इसी समय धर्माधिकारियों का अभ्युत्थान भी हो रहा था। जैसे सामन्तों के पास भूमि का विस्तार बढ़ रहा था और इसकी रक्षा का भार सेना के ऊपर सौंपा जा रहा था, वैसे इन धर्मात्माओं के पास भी धरती का विस्तृत क्षेत्र आ रहा था, और वे उसका सामन्तों की भाँति ही प्रबन्ध कर रहे थे। उत्तरोत्तर शक्ति ग्रहण करके ये ही धर्मात्मा देश की अर्थनीति में हस्तक्षेप करने लगे और सामन्तों के घरानों में प्रवेश करके उनकी राजनीति को भी अपनी तरह से प्रभावित करने लगे। इसी से इस समय के साहित्य में इन महापुरुषों का भी अंकन मिलता है। सम्भवतः तभी से गुरु की कल्पना हुई है, और आगे चलकर यही 'गुरु' देश की दशा में महापरिवर्तन लाने का कारण हुआ है। साहित्य में भी यह गुरु दिखाई देता है।

एक और श्रेणी रह जाती है। वह है व्यापारियों की। पहले तो गाँव में गाँव की माँग की वस्तुएँ बनीं, फिर बाजारें लगने लगीं। और दूर-दूर से वस्तुएँ आने-जाने लगीं। व्यापारियों के दल और वर्ग स्थापित होने लगे। अपनी लाभ-हानि की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वह भी संघर्ष करने लगे। उन्होंने अपने कल्याण के न्यायों की रचनाएँ कराईं। खर्चीले सामन्तों तथा राजाओं को वे ऋण देने लगे। अतः वही हुआ कि वह भी देश की अर्थनीति में हस्तक्षेप करने लगे। पूँजीवाद के आने पर जो अब और भी बढ़ गया है।

पिछला समस्त भारतीय साहित्य केवल मात्र ईश्वर, भूपति, पुरोहित, चमूपति और व्यापारियों के संसार की मानसिक-प्रक्रिया का साहित्य है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। जब से ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के चरण पड़े तब से लेकर आज तक सबसे प्रबलतम शक्ति साम्राज्यवाद की हुई है। और इसी दुर्दम साम्राज्यवाद की कुटिल नीति से नत्थी होकर राजे-महाराजे और पूँजीपति देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई में रोड़े अटकाते हैं। वह नहीं चाहते कि साम्राज्यवाद जाए। पूँजीवाद, क्या सामन्तवाद, दोनों ही अपनी भलाई इसी में देखते हैं कि एक तीसरी शक्ति नीचे से उठती हुई जनता को कुचलती रहे, ताकि वह जनता असफल रहे, अन्यथा सफलता प्राप्त करके जमीन उसकी हो जाएगी—जो जोतेगा; और मिलें उसकी हो जाएँगी—जो उसमें श्रम करेंगे।

अतः अब देश की विकासोन्मुख अर्थनीति के कारण निम्नांकित वर्ग बन गए हैं, जो एक दूसरे के विरोधी हैं :

- (1) जमींदार और किसान।
- (2) मिल मालिक और मजदूर।
- (3) साम्राज्यवाद और स्वतन्त्रता प्रेमी वर्ग।

इसके अतिरिक्त साम्राज्यवाद ने नीचे लिखे और भी वर्ग अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए कायम कर दिए हैं :

- (1) बहुसंख्यक जातियाँ और अल्पसंख्यक जातियाँ।
- (2) सवर्ण हिन्दू और मुसलमान।
- (3) पाकिस्तान और हिन्दुस्तान।
- (4) पदाधिकारी और साधारणजन।

इसका परिणाम भी वही हुआ कि अब हिन्दी में वर्ग भेद के साहित्य की रचना शुरू हो गयी है। इसका भी एकमात्र कारण देश की अर्थनीति ही है।

यह तो हुई अर्थनीति के कारण वैसी मानसिक प्रक्रिया की बात।

अब देखना यह है कि आर्थिक आधार के बदलने से मानसिक प्रक्रिया किस-किस रूप में और किस-किस तरह से व्यक्त हुई है?

वीरगाथा काल में वीरों के जीवन से ही जनता का जीवन सम्बन्धित था; इस हेतु मानसिक प्रक्रिया, भाषा में वीरों की विरुदावली के रूप में व्यक्त हुई है; वैसे ही शब्दों का कवियों ने प्रयोग किया है; जिससे रणध्वनि साकार होती

है। आक्रमण और प्रत्याक्रमण का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होता है, सेनाओं का प्रवाह और तूर्यनाद दोनों का निरूपण भी हुआ है।

भक्तिकाल की आर्थिक व्यवस्था, जन-साधारण की दृष्टि से अच्छी न थी। जन साधारण को सामन्तों से सुख-सुविधा अप्राप्य थी। उनका कोई सहारा न रह गया था। आदर्श चरित्रधारी नृपति अधःपतन में पड़कर मुगल-सम्राट से मेल-मिलाप करके, वैभव की चकाचौंध बनाए रखना चाहते थे। फिर ईश्वर का काव्य संस्कृत साहित्य में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था; इससे जनकवियों ने जनता की आर्थिक दुरवस्था से क्षुब्ध होकर सगुण और निर्गुण ब्रह्म का आश्रय लिया और जनता को राम और कृष्ण के चरित्र में भुलाने और रमाने लगे। उधर तो राजाओं का वैभव-विलास था और उनकी रति-केलि थी। इधर उसी के अनुरूप विद्यापति की राधा-माधव की शृङ्गारी-कविता में रति-केलि थी, जो जनता को मानसिक तृप्ति के लिए पूर्णरूपेण समर्थ थी। तुलसी ने अभाव से पीड़ित, अच्छी राज-व्यवस्था से वंचित और चरित्रादर्श व्यक्ति के अनुकरण के लिए आकुलित जनता को 'रामायण' दी। जनता के आर्थिक अभाव से प्रेरित होकर ही तुलसी ने स्थापित मुगल राज्य-वैभव के समक्ष रामराज्य का काव्यमय रूप स्थापित किया। मुगल राज्य में दुर्बलताएँ थीं, किन्तु कवि के दिये 'रामराज्य' में कोई दुर्बलता न थी। जनता ने इस पलायन को जीवन के रूप में ग्रहण किया। और क्योंकि तुलसी की यह मानसिक प्रक्रिया जन-साधारण के जीवनाभाव की प्रक्रिया थी, तत्कालीन जनभाषा अवधी के सरल शब्दों में दोहा-चौपाई का जामा पहनकर व्यक्त हुई। सूर ने कोई चरित्र नहीं गढ़ा। उन्होंने कृष्ण का लड़कपन, प्रेम और विरह चित्रित किया है। जनता ने इनके बालकृष्ण में अपने बालकों की काल्पनिक क्रीड़ाओं का प्रतिबिम्ब पाया; कृष्ण और गोपी के प्रेम-विरह में अपना प्रेम-विरह पाया। समुपस्थित राज्यवर्ग का केलि-कलाप जनता को दुर्लभ था, इस हेतु सूर रचित कृष्ण के केलि-कलाप में जनता की आसक्ति हुई। जनता इसमें अपना भौतिक दुख भूली रही। मीरा ने तो इतनी मादकता और ममता कृष्ण के प्रेमानुराग में व्यक्त की कि सूर और तुलसी में अप्राप्य मादकता और मोह भी जनता को मीरा के पदों के द्वारा मिल गया। तुलसी, सूर, मीरा और विद्यापति की प्रक्रिया काल्पनिक रूप लेकर अवश्य प्रकट हुई, किन्तु वह थी अपने इस रूप में अभाव की पूर्ति की क्षमता रखने वाली। कबीर की मानसिक-प्रक्रिया सूर और तुलसी की प्रक्रिया का नकारात्मक रूप लेकर निर्गुण-ब्रह्म के

निरूपण में व्यक्त हुई। उसमें बुद्धि, तर्क, संशय और विचार-पुट था किन्तु वह, समुपस्थित राजकीय जीवन के सदृश, जनता को जीवन दे सकने में असमर्थ थी।

रीतिकाल में जनकवि कोई नहीं हुआ, क्योंकि जनता स्वयं उभर नहीं पाई थी; इसके विपरीत “मुगल-साम्राज्यवाद से समझौता करने के बाद कुछ समय के लिये भारतीय सामन्तवाद सुख की साँसें लेने लगा। राजाओं की प्रशंसा के गीत गाये जाने लगे; और नायिकाओं के हाव-भाव, कटाक्षों आदि के वर्णन से चाटुकार कवि अपने आश्रयदाताओं को रिझाने लगे।” रामविलास जी (डा० शर्मा) के इस कथन में इतनी सत्यता है कि कोई इससे इनकार नहीं कर सकता। वास्तव में समस्त रीतिकालीन काव्य सामन्तों की मानसिक प्रक्रिया का काव्य है। वह मुगल साम्राज्यवाद के वैभव को देखते थे और उसकी अनुकृति करते थे, किन्तु कर न पाते थे। इससे वाणी-व्यसन के रूप में ही, आश्रित कवियों द्वारा ऐसी कविता की माँग किये रहते थे, जो जन-साधारण की पहुँच से परे हो और जिसमें वही शान-बान हो जो राजाओं के अनुरूप हो। तथापि आश्रित कवियों को संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों की शरण लेनी पड़ी और तब उन्होंने रस और अलंकारों की भरमार से राजदरबारों को पाट दिया। उन कवियों के पास कोई नवीन जीवन-दर्शन न था—न कोई विचार-दर्शन ही था। केवल कलाचातुरी और आचार्यत्व ही आचार्यत्व था।

इसके बाद हिन्दी का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। विलायत के व्यापारियों ने पहले तो यहाँ का तैयार माल ले जाकर विलायत में बेचा और इस तरह अमीर बनते रहे कि वहाँ उनके खिलाफ कानून तक बनाया गया कि उनका सारा व्यापार नष्ट हो जाय! किन्तु बाद को जब वहाँ औद्योगिक क्रान्ति सफल हुई और वहाँ का तैयार माल बाहर से जाने की आवश्यकता हुई तब हिन्दुस्तान में ही उसको ढकेला गया। यह अहितकर नीति थी, क्योंकि यहाँ का कच्चा माल सस्ते में क्रय करके, उससे कई गुने लाभ पर फिर यहाँ लाकर विक्रय करने से अधिक धन मिलता था। श्री रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक "India Today" में इसकी विस्तृत आलोचना की है। उससे पता चलता है कि भारत के उद्योग-धन्धों में रत रहने वाले श्रमिकों का शोषण करके अंग्रेजों ने उन्हें वहाँ से भगा दिया और वे खेत जोतने-बोने में लग गये, और इस तरह यहाँ का उद्योग-धन्धा चौपट कर दिया गया। यदि

अंग्रेज बहादुर ऐसा न करते तो इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति कदापि न सफल होती। यहाँ के धन से ही वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति सफल हुई थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रथम बार इस दुर्नीति को देखा। वह यह बहुत ही स्पष्ट रूप से देख सके, किन्तु अंग्रेजों के रेल-तार और शिक्षा केन्द्रों के स्थापित करने के काम से थोड़ी देर के लिए भुलावे में भी पड़े, यही कारण है, वह कभी-कभी अंग्रेजी राज्य के गुण गाने लगते हैं। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने पहले-पहल अंग्रेजों की इस अर्थनीति को समझा और अपनी जनता के लिए अंग्रेज विरोधी रचना करने लगे। उनकी मानसिक प्रक्रिया ने सूर-तुलसी की मानसिक प्रक्रिया का रूप नहीं लिया। वे पहले भौतिकवादी थे। उनमें 'परलोकवाद' और आदर्शवाद की कल्पना चाहे जिस मात्रा में रही हो किन्तु वे जनता के दुख को भूलने के लिए दुनिया को छोड़कर जाने को तैयार नहीं थे। सूर और तुलसी ने निजकालीन अर्थनीति को इस तरह नहीं देखा था जैसा भारतेन्दु ने पहले-पहल देखा। अतः भारतेन्दु काल से ही आधुनिक हिन्दी कविता का भौतिकवादी, शोषण विरोधी इतिहास प्रारम्भ होता है।

तत्पश्चात् द्विवेदी युग आता है। भारतेन्दु का अंग्रेज-विरोधी स्वर और ऊपर उठा। 'भारत-भारती' में इसके प्रमाण मिलते हैं। किन्तु यह स्वर सुधारकों-का-सा स्वर है, मर्यादावादियों-का-सा स्वर है। इस स्वर में किसान-मजदूर का स्वर नहीं है, उस स्वर की प्रक्रिया है, लेकिन मन्द शब्दों में। सबल शब्दों में इसकी प्रक्रिया प्रेमचन्द में हुई है। उन्होंने पहले-पहल भारतेन्दु की वीजारोपित साहित्यिक अर्थनीति को पूरी तरह ग्रहण किया और अपने उपन्यासों में उसका चित्रण करने लगे। 'सेवासदन' में देश की आर्थिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि वर्तमान है। 'रंगभूमि' में उद्योग-धन्धों की प्रक्रिया का समावेश है। 'कर्मभूमि' में लगानबन्दी और अछूतों के आन्दोलनों का चित्रण है। 'प्रेमाश्रम' में जमींदार और किसानों के द्वन्द्व को उभारा गया है। 'गोदान' में महाजनी सभ्यता का किसान की प्रक्रिया के रूप में महान कथानक है। किन्तु यह सब गद्य में है। प्रेमचन्द जैसा अन्य व्यक्ति कोई नहीं हुआ; जो उनके समकालीन रहकर उसी दृष्टि से पद्य में वही प्रक्रिया प्रकट करता। कविता में जो प्रक्रिया आई वह बिलकुल दूसरे प्रकार की है। प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी कविता में छायावाद का प्रवेश हुआ। यह छायावाद पूँजीवाद के प्रसार के कारण सम्भव हुआ। पूँजीवाद ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता घोषित

की, किन्तु वह व्यक्ति को नये शोषण से अधिकाधिक जकड़ने लगा। इसलिए पूँजीवादी अर्थनीति के कारण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की प्रक्रिया का काव्य रचा जाने लगा। ऐसे काव्य के लिए भारत का वैभवपूर्ण भूतकाल था, दार्शनिक क्षेत्र था, राजनैतिक समस्याएँ थीं, वर्ग संघर्ष था, और था विषमताओं से परेशान होकर कल्पना की शरण ग्रहण करना। कवि लोग अपनी आशा और निराशा के गीत गाने लगे। पन्त ने 'ग्रन्थि' लिखी। वह 'उच्छ्वास' में रोए। निराला ने भी 'परिमल' की किन्हीं-किन्हीं रचनाओं में वैसी ही निराशा प्रकट की। किन्तु वह अध्यात्मवाद का सहारा लेकर समुपस्थित अर्थनीति के विद्रोह में कविता लिखने में अधिकतर चूकते ही रहे। यही हाल पंत का रहा। प्रसाद तो 'गतवैभव' में ही समा गए और खो गए। व्यक्ति स्वातन्त्र्य को व्यापक बनाने में प्रसाद ने उसे गत वैभव का साम्राज्य दिखाया; पन्त ने उसे कल्पना के सौन्दर्य की अनूठी झाँकी दिखायी; और निराला ने उसको अध्यात्मिक लोक में विचरण कराया। ऐसा होना अनिवार्य था, क्योंकि अभी तक भारत ने राजनैतिक आन्दोलन करके भी साम्राज्यवादी अर्थनीति को जनसाधारण की दृष्टि से नहीं समझा था। नेता हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहते, किन्तु वह दिल की सफाई के आधार पर ही; किसी अर्थनीति के आधार पर नहीं। वह अंग्रेजों से स्वराज्य लेना चाहते थे, किन्तु यहाँ-वहाँ किसानों का मोर्चा बना कर और नमक कानून तोड़कर। असहयोग-आन्दोलन अहिंसात्मक था ही और निस्संदेह इसने राष्ट्रीय-जागरण में एक बहुत बड़ा कार्य भी किया है। इसलिए इसकी महत्ता भले ही रहे, किन्तु इससे साम्राज्यवादी अर्थनीति का सीधा, सामने का मोर्चा नहीं था। इसलिए यह आन्दोलन भी आदर्शवादी होकर रह गया। इस आन्दोलन की समाप्ति नेताओं के मनोविकारों में हुई। देश की जनता को अब भी अर्थनीति से आँखें चार करने का अवसर नहीं मिला था, तब बेचारे हिन्दी के कवि कैसे उस अर्थनीति की प्रक्रिया का सबल और स्वस्थ काव्य देते। यही कारण है कि इस छायावादी और रहस्यवादी कवियों में अमूर्त सौन्दर्य विशेष रूप से मिलता है। भाव और भाषा दोनों ही व्यक्ति स्वातंत्र्य की उँगली पकड़कर असाधारण की ओर बढ़ गए हैं।

किन्तु यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य केवल बुद्धिजीवियों को प्राप्त हो सका और वह मुक्त गगन में विचरते रहे। किसान और मजदूर तो फिर भी अर्थनीति के बन्दी बने ही रहे। उनको नाममात्र की स्वतन्त्रता मिली, लेकिन शोषण ने उन्हें अपने बाहुपाश में पुनः जकड़ लिया और तब तक द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो

गया। पिसा हुआ किसान और पिसने लगा। चुसा हुआ मजदूर और चुसने लगा। मध्यवर्गीय व्यक्ति में घोर असन्तोष व्याप्त हो गया। नेता जेल में बन्द कर दिये गए। 1942 की आग भड़की और जनता ने विद्रोह किया। किन्तु वह भी दबा दिया गया। मनमाना चन्दा वसूल किया गया। भारत में यद्यपि युद्ध न था किन्तु मित्र राष्ट्रों की लड़ाई के लिये उसे युद्ध-सामग्री तैयार करनी पड़ी। आन्तरिक शांति स्थापित करने के लिए विशेष कानून बने। आर्डिनेसों के घोड़े दौड़े। 'कन्ट्रोल्ल्स' से जनता बाँध दी गयी। लगातार छः साल तक जनता बराबर पिसती रही, पूँजीपतियों ने चोरबाजारी करके अपरिमित धन कमाया। अफसरों ने घूस ली। कई आई० सी० एस० इस अपराध में पकड़े गए। बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर भी दोषी निकले। भारतीय सैनिक बाहर गये और विदेशों में जाकर वहाँ उन्होंने स्वतन्त्र देश की अर्थनीति और गुलाम देश की अर्थनीति का अन्तर देखा। विद्यार्थी वर्ग भी सचेत हो गया। रियासत की जनता भी जग पड़ी। यह क्यों हुआ? इस सबका एक मात्र कारण यह है कि अब अर्थनीति के यथार्थ दृष्टिकोण को सब समझने लगे हैं और इसी पर हर ओर से आक्रमण के लिए तैयार हैं। इस तैयारी का नमूना सैनिकों के विद्रोह में मिलता है; डाकियों की हड़ताल में मिलता है; मिल-मजदूरों की लम्बी-लम्बी हड़तालों में मिलता है; यहाँ-वहाँ हर तरफ किसान-सभाओं की आवाजों में मिलता है। बंगाल का तेभागा आन्दोलन भी यही सिद्ध करता है। त्रावणकोर, अभलनेर और हैदराबाद में हुए जनविरोधी लोम-हर्षक अत्याचार की कहानी भी यही बताती है। कश्मीर भी दहाड़ उठा। इन सबसे यही नतीजा निकलता है कि अब वास्तव में समस्त भारतीय जनता साम्राज्यवादी अर्थनीति की विरोधी हो गयी है और उसको मेटकर ही चैन लेगी।

काव्य में इस नये जागरण की प्रक्रिया भी बिलकुल नयी हुई है। अब जो कविताएँ लिखी गयीं, वह छायावादी और रहस्यवादी कविता से सर्वथा भिन्न हैं। स्वयं रहस्यवादी और छायावादी कवि ही—पन्त और निराला—इस ओर झुक पड़े। इन दोनों में निराला ही प्रबल वेग से पूरी तरह से जनता की आवाज लेकर सामने आये। इस समय निराला की मानसिक प्रक्रिया उनकी पूर्व की प्रक्रिया से सर्वथा अलग ही है।

हिन्दी का यह युग समाजवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद और मार्क्सवाद का युग है। जनता ने साम्राज्यवादी मोर्चे के विरोध में अपना नया बलवान मोर्चा बनाया है, और साम्राज्यवादी अर्थनीति का अन्तकाल आ गया है। यदि ऐसे में

भी हिन्दी के वर्तमान कवि इन जनजीवन में अपना काव्ययोग नहीं देते, तो वे अपमानित और अवहेलित होंगे, और परम्परा अब अवरुद्ध होकर विश्राम ले लेगी। जो साहित्यिक इस नये काव्य के विरुद्ध मोर्चा बनाकर उसे मिटा देना चाहते हैं, वे असफल तो होंगे ही; किन्तु उन्हें अपनी भूल का निराकरण करने के हेतु 'कलंकी' की उपाधि भी लेनी होगी। आने वाली पीढ़ी के लोग उन्हें क्षमा नहीं कर सकते।

इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि अब हिन्दी की कविता न 'रस' की प्यासी है, न 'अलंकार' की इच्छुक है; और न 'संगीत' की तुकान्त पदावली की भूखी है। भगवान अब उसके लिए व्यर्थ है। आज जिसके कि राजा शासक हैं, पूँजीपति शोषक हैं। अब वह चाहती है—किसान की वाणी, मजदूर की वाणी और जन-जन की वाणी।

अतः इसी प्रक्रिया को लेकर मैंने भी प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ रची हैं। इनमें ईश्वर का मखौल है; इनमें समाज की अर्थनीति के विरुद्ध प्रहार है; इनमें कटु जीवन का व्यंग है; साथ ही साथ प्रकृति का किसानी चित्रण भी है; और देश की जागृत शक्ति का उबाल है। पलायनवादी परम्परा की न तो ये रचनाएँ हैं और न हो सकती हैं। 'जिन्दगी की भीड़' की इन कविताओं में जनता के मोर्चे की प्रतिध्वनि है।

अन्त में मैं अपने परम मित्र श्री शमशेर बहादुर सिंह का चिरकृतज्ञ हूँ कि जिन्होंने इस संग्रह के प्रकाशन के लिए मुझे बाध्य किया और मुझसे पांडुलिपि मँगाकर प्रकाशक को दी।

बाँदा (३० प्र०)

—केदारनाथ अग्रवाल

16.3.47



कवि केदारनाथ अग्रवाल की अगस्त सन् 1947 ईसवी में प्रकाशित द्वितीय काव्य-कृति 'नींद के बादल' (प्रकाशक-भानुकुमार जैन, मैनेजिंग डायरेक्टर, हिन्दी ज्ञान मंदिर लिमिटेड, रुस्तम बिल्डिंग, 29, चर्चगेट स्ट्रीट, फोर्ट, मुम्बई) की भूमिका :

'नींद के बादल' की भूमिका

कवि के ही शब्दों में

'नींद के बादल' रात के जादू के बाद-दिन के लाल सबेरे के साथ ही ओझल हो जाते हैं। इस प्रकार मेरे नये सबेरे के साथ प्रेम की इस संग्रह की कविताओं की इति हो जाती है।

“नींद के बादल” की कविताएँ वैयक्तिक हैं, फिर भी मेरे कवि विकास की पहली मंजिल के स्पष्ट चिह्न हैं, जो अभी तक ज्यों के त्यों कागज के कलेजे पर जमें हुए हैं; जैसे हीरे के ऊपर नक्श हो गये हों।

– केदारनाथ अग्रवाल



कवि केदारनाथ अग्रवाल के तृतीय काव्य-संग्रह 'लोक और आलोक' (प्रकाशक-लहर प्रकाशन, इलाहाबाद-2) की भूमिका :

'लोक और आलोक' की भूमिका

अपनी बात

अपनी कलम से अपनी 'राम कहानी' के कहने में कठिनाई अधिक, सरलता कम होती है, क्योंकि अब तक दूसरों की कहानी लिखने में ही सतत रत रहा हूँ;-अपनी तो बात ही नहीं करता रहा।

आज तक मेरी वर्षगाँठ कभी नहीं मनाई गई और न मेरी और मेरी पत्नी की कुण्डलियाँ ही मेरे सामने आर्यीं और मिलायी गयीं; न मैंने अपने जन्मांक लिखकर सरकार के कृपा निकेतन तक, अपना कोई आवेदन पत्र ही पहुँचाया। इसलिए जन्मतिथि के जानने का सौभाग्य मुझे भूलकर भी नहीं हुआ। अतएव अपने पितामह के अन्वेषण करा कर यह ज्ञात कर सका कि मैं चैत्र के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को शनिवार के दिन सम्बत् 1968 में अवतरित हुआ।

कर्म के पराक्रमी कुनवे में जन्म न पाकर मैं, अभाग्य से अकर्मक क्रिया की तरह जीवन का वाक्य पूरा करने में लगा हूँ। वैश्य-कुलीन हूँ, इसीलिए कुलीन की मर्यादा में रहकर अब तक अकुलीन नहीं हो पाया। लड़कपन में ग्यारह वर्ष की उम्र तक, त्याज्य समझे गये बालकों के साथ अवश्य खेला-कूदा हूँ; लेकिन स्वयं त्याज्य नहीं हो सका; समाज की इस कृपा का मैं उसी तरह आभारी हूँ जिस तरह वन-कुटुम्ब से निर्वासित पिजड़े में पला तोता। जिस तरह स्वच्छन्द विचरण का अभाव रहा, स्वच्छन्द प्रेम का अभाव भी

उसी प्रकार रहा। मेरा व्याह लड़कपन में हुआ और अब पिता और नाना के पद पर आसीन हूँ। पाठशाला की सरस्वती से वरदान लेकर अपाट्य पुस्तकों की संगत में अनर्थ के पीछे पागल रहा और कम आयु में ही काव्य को गोबर-गनेश की भाँति पढ़ता रहा। जैसे-तैसे तीसरी श्रेणी में बी० ए० पास कर वकालत भी, एक बार फेल होकर पास कर सका और आजकल 'एडवोकेट' बना कचहरी में न्यायानुकूल रुपये का हरण और अपहरण करता हूँ।

कविताई ने मैंने पायी, न चुरायी। इसे मैंने जीवन जोतकर, किसान की तरह बोया और काटा है। यह मेरी अपनी है और मुझे प्राण से अधिक प्यारी है। किन्तु मैंने इसे कपाट और कोठे की बन्दिनी बनाकर अपने अहं की चेरी के रूप में नहीं रक्खा। मैंने कविता को सरिता के रूप में जनता तक पहुँचाया है। यदि कविता से लगन न लगती तो लक्ष्मी का वाहन बनकर कम पढ़ा मूढ़ महाजन होता और शायद जरूरत से ज्यादा कागज के नोटों का संचय करता। कविता ने मुझे इस योग्य बनाया कि मैं जीवन निर्वाह के लिये उसी हद तक अर्थार्जन करूँ जिस हद तक आदमी बना रह सकता हूँ। सच बात तो यह है कि दूसरों की कविताएँ पढ़-पढ़कर ही उस दृष्टि को मैं पा सका हूँ जो न मेरे पास थी और न मैं जिसे स्वयं प्राप्त कर सकता था। आत्मद्रष्टा या दिव्यद्रष्टा तो था नहीं अतएव दूसरों की आँखों से देख-देखकर ही इस अलेख और अबूझ संसार के रहस्य को ग्रहण कर सका हूँ। जितना विचार काव्य में मेरे पल्ले पड़ा उतना ही संसार मैंने समझा। यह क्रम टूटा नहीं, निरन्तर बढ़ता ही गया और मैं भी बढ़ते-बढ़ते यथार्थ द्रष्टा हो गया। अब मेरी आँखों में दृष्टि पड़ गयी है और उसी दृष्टि से ग्राह्य और अग्राह्य की परख कर लेता हूँ और समझ में आई हुई बात को कविता के रूप में दूसरों के सामने रख देता हूँ। यही कारण है कि संकीर्ण व्यक्तित्व के विकृत मनोभावों का निरूपण मैं नहीं कर पाता; और अवचेतन के अलाव में कूदने का प्रयोगवादी अभिव्यंजन भी नहीं करता। जब तक मेरी अनुभूतियाँ स्पष्ट आकार नहीं ले लेतीं और सामाजिकता उभार नहीं लेतीं तब तक, हाँ तब तक, मैं उन्हें व्यक्तीकरण के योग्य नहीं समझता। आत्म-अभिव्यक्तीकरण को ज्यों का त्यों प्रदर्शित करने से तुष्टीकरण भले ही हो किन्तु कल्पना और कुतूहल का यह सौदा किसी गरजू ग्राहक को ग्राह्य न होगा; हाँ, थोड़े लोग उसे उसी तरह उठा लेंगे जैसे तांत्रिक की दी हुई ताबीज।

मैं जैसे शुद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं पाता, सब में अशुद्ध का

योग पाता हूँ, वैसे ही कविता भी शुद्ध नहीं, अशुद्ध पाता हूँ। शुद्ध कविता की परम्परा स्वयमेव अशुद्ध होकर रह गयी है। अतएव अशुद्ध कविता लिखना अपना परम धर्म समझता हूँ। जो लोग मेरी कविताओं में सामाजिकता और समाजवादिता का दोष खोजते हैं वे मेरी अशुद्ध कविता और मेरे साथ बुरी तरह अन्याय करते हैं। मिलावट का घी खाने वाले जब पीयूष-पान का प्रचार करते हैं तो वास्तव में वे असम्भाव्य का प्रचार करते हैं और उपयोगी रसायनों से बनी हुई औषधि का भी बहिष्कार करते हैं। मैं कविता और सामाजिकता दोनों का महत्व समझता हूँ और दोनों का मेल-मिलाप ही हितकारी मानता हूँ। धुएँ की गगन-यात्रा का विचित्र वर्णन शुद्ध काव्य के अन्तर्गत भले ही आ जाये लेकिन वह वर्णन उस वर्णन से कहीं तुच्छ है और स्लेज पर सवार बर्फ के ऊपर जाने वाले डाक्टर का चित्रण करता है। यह नहीं कि मैं प्रकृति के रूप सौन्दर्य का पुजारी नहीं हूँ और उसके अपार लावण्य की, काव्य में अभिव्यक्ति नहीं चाहता। यह तो हमारी भारतीय परम्परा की अनूठी विरासत है और हम आज भी उसे अपनाये हुए हैं। प्रकृति की सहज बोधगम्य चित्तमत्ता हिन्दी काव्य में अनेकानेक रूप-रंग के साथ व्यक्त होती रही है, और होती रहेगी; किन्तु उनके चित्रांकन में भी रूढ़िगत सौष्ठव को त्यागते हुए आज की आँखों और हृदय में समाए हुए नवीन सौन्दर्य श्री को उतारना पड़ेगा। इस सौन्दर्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। मैंने अपनी कई कविताओं में प्रकृति को नये रंग-रूप से रूपायित किया है। वह प्रयोग नहीं प्रगति का सूचक है। इसके अतिरिक्त प्रतीकों के माध्यम को भी मैंने ग्रहण किया है; इस माध्यम की उपेक्षा नहीं हो सकती किन्तु प्रयुक्त करते समय इस माध्यम की न्यूनताओं को बखूबी समझ लेने में ही कवि की कुशलता होती है। प्रतीक किसी नये कवि ने नहीं निकाले। प्रतीकों को सदैव भारतीय साहित्य में सम्मानित स्थान दिया गया है। आज तो हम उस विरासत को आगे बढ़ा रहे हैं और समर्थ कर रहे हैं। ऐसी दशा में प्रगतिशील कवि को यह आवश्यक हो जाता है कि वह इस मर्म को समझे और तब प्रकृति और प्रतीक का अपलम्ब ले। मुझे कोई सौन्दर्यवादी अथवा प्रतीकवादी कहकर अपनी अज्ञानता का ही परिचय देगा।

क्लासिकल साहित्य के अध्ययन से मेरी कविता में उसके कुछ गुण अवश्य आये हैं। मेरी यथार्थ दृष्टि को उन गुणों ने उसी तरह परिमार्जित किया है जिस तरह कुशल शिल्पी अनगढ़ वस्तुओं को गढ़कर आकर्षक स्वरूप दे

देता है। यथार्थ का निर्वाह तभी प्रभावपूर्ण शब्दों में, छन्दों में हो सकता है जब क्लासिक की वह कमनीयता और गम्भीरता उसे प्रदान की जाए। निराला की कविता में जहाँ यथार्थ क्लासिक तत्वों से सँवरकर उभरा है वहीं वह यथार्थ सजीव और सप्राण हो गया है। इसके विरुद्ध जहाँ पर केवल यथार्थ ही अपने अनगढ़ रूप में व्यक्त हुआ है वहाँ वह सरस और रुचिकर नहीं हो सका। ठीक इसी प्रकार जहाँ केवल क्लासिक ने यथार्थ को धर दबाया है वहाँ भी उनकी कविता में दुरुहता और दीनता आ गयी है। मेरी कविताओं में इस बात का स्पष्टीकरण मिलेगा। मेरी कई गेय कविताएँ वस्तु तत्व में तो यथार्थवादी हैं किन्तु शैली निर्वाह में क्लासिक स्वभाव अपनाये हैं। प्रगतिवाद के स्वस्थ विकास के लिए क्लासिक का प्रभाव लाभदायक है, अहितकर नहीं।

यह बात नहीं है कि मेरा जीवन तपे-तपाये फौलाद की तरह मजबूत है। आज के युग की विषम सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने मुझे भी दीन, दुखी और निराश बनाया है। मैंने भी मानसिक दुर्बलताओं से कभी-कभी अपने स्वस्थ दृष्टिकोण को तोड़ा और मरोड़ा है। किन्तु मेरा यह प्रयास हितकारी नहीं कहा जा सकता। मैंने इन निराश क्षणों में जो कविताएँ लिखी हैं वे भी यहाँ पर इसलिए दी जाती हैं कि प्रगतिशील कविता के पाठक यह बखूबी जान लें कि हम प्रगतिशील कवि भी जीवन में उदास और आहत होते हैं। लेकिन इससे बढ़कर एक बात यह है कि हम डूबने से बच गए। हम उसको अमूल्य नहीं समझ बैठे और न हमने अपने को दीनता, दुर्बलता और दुराशा के हाथ बेचा।

पहले तो अनुभूति की स्पष्टता एक कवि के लिये बहुत जरूरी है और फिर उसके व्यक्तीकरण के माध्यम की। जहाँ स्पष्ट अनुभूति स्पष्ट माध्यम पा लेती है वहीं कविता सुबोध, सुगम और सरस हो जाती है। मैंने यही किया है। अनुभूति की गहराई के बहाने मैंने कभी अस्पष्टता, दुरुहता और विकृतता को अपने पास नहीं फटकने दिया। गहराई, देश और जनता से दूर भागने और आत्मस्थ होने से या गगनस्थ होने से नहीं आती। वह जन-सम्पर्क में निरन्तर रहने से और वस्तुस्थिति में बैठकर स्वस्थ-सबल होने से आती है। मेरा विकास ही मेरी गहराई का साक्षी है, और जहाँ तक कम और अधिक गहराई का प्रश्न है वह तो पाठक ही माप सकते हैं। मैं अपना निर्णय नहीं, जनता का निर्णय ही इस सम्बन्ध में सर्वमान्य स्वीकार करता हूँ। जो कवि

अपनी काव्यानुभूति की थाह स्वयं लेते हैं और जनता के गोताखोरों को उसकी चाह नहीं लेने देते वे वास्तव में अपने को महान और जनता को तुच्छ समझते हैं। ऐसा अहं-बोध न मुझमें रहा है, और न है। स्वयं 'गद्दीनशीन' होने और काव्य के क्षेत्र को अपनी धरोहर समझने की प्रवृत्ति अपनी पराजय और अपने पलायन को ही व्यक्त करती है। न मैं पराजयवादी हूँ, न पलायनवादी। अतएव मैं प्रयोगवादी नहीं हूँ।

आत्मानुभूति या अहं-प्रचार भी काव्य नहीं है। मनोविज्ञान के अवचेतन और उपचेतन के सुप्त पड़े द्वीपों का आकस्मिक विस्फोट भी, चाहे वह कितना ही विचित्र और अजूबा क्यों न हो, काव्य का विषय नहीं हो सकता। जो कवि ऐसा नहीं मानते, उल्टे इसी को कविताई समझते हैं, वे कुशल मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन की उत्तम इकाईयाँ हैं। इनकी कविताएँ आत्म-विस्फोट के रहस्य को समझने में सार्थक हो सकती हैं; किन्तु मनुष्य को जागरूक होकर जीने और अपने समाज और देश की आशा और उत्साह से गढ़ने में कदापि सहायक नहीं हो सकतीं। मैं न ऐसी इकाई था और न हूँ और न भविष्य में ऐसी इकाई बनने का अभिलाषी हूँ।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है वह कई बातों से बनती बिगड़ती है। यदि वह बोझिल शब्दों का अखाड़ा लगाती है तो दंगल देखने का मजा आता है। यदि वह 'बतकही' करती है तो कमरे में चाय पीने का या किसी 'कॉफी हाउस्' में टीका-टिप्पणी का मजा देती है। यदि वह 'बबुआइन' बन कर, नये के सिंगार में रूप को चटक कर चलती है तो अपरहण किये जाने की शंका पैदा करती है। यदि वह तथ्यों और भावों की तालिका भेंट करती है तो वह अपनी नहीं, किसी अर्थशास्त्री का जामा पहनती है। यदि वह चित्रमत्ता अधिक और विचार या भाव कम अपनाती है तो गद्दी से उतारे हुए, परन्तु फिर भी ताम-झाम से जीने वाले, नरेशों की रखैलों का चीर-हरण कर दूसरों का कलेजा चीरती है। यदि वह कवि के मन की 'गुंजार' बनकर अपनी गेयता को ही प्रधानता देती है तो वह स्वरपात से समाज के निर्माण की निष्फल कामना करती है। मैंने इन दोषों से बचने का यथासाध्य प्रयास किया है किन्तु यह बात नहीं है कि मैं सदा सफल ही हुआ हूँ। शैली के दोष मेरी कविताओं में हैं, मैं इससे इनकार नहीं करता। लेकिन मेरी कविताएँ साफ-सुथरी शैली में अधिकांश और कमजोर शैली में कम हैं। यह अवश्य है कि हर कवि की शैली में विशेषता कुछ-न-कुछ होनी ही चाहिए। इसीलिए न

पश्चिमी काव्य-शैली का यथावत ग्रहण ग्राह्य है, न प्राचीन भारतीय शैली का। मैंने इस बात का ध्यान रक्खा है। सत्य तो यह है कि जन-जीवन में बने हुए कवि के व्यक्तित्व के अनुरूप ही उसकी शैली होगी। मैं तो शैली की कमजोरी अपने व्यक्तित्व की दुर्बलता मानता हूँ। इसलिए व्यक्तित्व के उठने और सँवारने से ही कवि की शैली भी उठती और सँवरती है।

अन्त में इतना और कहूँगा कि मैं लोगों में रहकर उन्हीं में जीकर, उनकी अनुभूतियों को लेकर उन्हें अपनी बनाकर, कुशल शिल्पी की तरह खराद कर, कविता के रूप में फिर लोगों को इसलिए भेंट करना चाहता हूँ कि सबका वर्तमान और भविष्य स्वस्थ और सुन्दर हो और प्रगति करते चलें।

बाँदा (३० प्र०)

—केदारनाथ अग्रवाल

16.5.1957



‘फूल नहीं, रंग बोलते हैं’ में सम्मिलित कविताएँ

प्रस्तुत-संग्रह ‘गुलमेंहदी’ में कवि केदारनाथ अग्रवाल की पूर्व प्रकाशित काव्य-कृतियों—(1) युग की गंगा, (2) नींद के बादल, (3) लोक और आलोक की अकिंश कविताएँ संकलित हैं। ‘आज अभी आँखों से’ शीर्षक के अन्तर्गत छपी कविताएँ (पृष्ठ 165 से 186) वह कविताएँ हैं जो अभी तक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुईं।

‘युग की गंगा’ तथा ‘लोक और आलोक’ के प्रथम संस्करणों में छपी वे कविताएँ जो कवि के काव्य-संग्रह ‘फूल नहीं, रंग बोलते हैं’ में स्थान पा चुकी हैं उन्हें इस संग्रह में शामिल नहीं किया गया है। पूर्व प्रकाशित अब अलग से अनुपलब्ध, कविता संग्रह ‘नींद के बादल’ को इसमें सम्मिलित कर दिया गया है। ‘युग की गंगा’ तथा ‘लोक और आलोक’ (अब अनुपलब्ध) संग्रहों की ‘फूल नहीं, रंग बोलते हैं’ में प्रकाशित कविताओं की सूची पाठकों की जानकारी हेतु नीचे दी जा रही है—

फूल नहीं, रंग बोलते हैं

संग्रह के पृष्ठ	कविताएँ	पूर्व-संग्रह का नाम
17	चंद्र गहना से लौटती बेर	युग की गंगा
20	बसन्ती हवा	युग की गंगा
23	धन-जन	युग की गंगा
24	दो जीवन	युग की गंगा
69	आज	युग की गंगा
70	देश की आशाएँ	युग की गंगा
71	कानपुर	युग की गंगा

73	बुंदेलखंड के आदमी	युग की गंगा
74	पैतृक सम्पत्ति	युग की गंगा
75	कटुई का गीत	युग की गंगा
25	गीत	लोक और आलोक
26	गीत	लोक और आलोक
27	गीत	लोक और आलोक
28	गीत	लोक और आलोक
29	चाँद-चाँदनी	लोक और आलोक
30	प्रात-चित्र	लोक और आलोक
31	खेत का दृश्य	लोक और आलोक
32	धूप का गीत	लोक और आलोक
81	लौह का घन गल रहा है	लोक और आलोक
82	गाँव का महाजन	लोक और आलोक
83	हथौड़े का गीत	लोक और आलोक
84	मैं	लोक और आलोक
85	नागार्जुन के बाँदा आने पर	लोक और आलोक
95	मैं घोड़ों की दौड़	लोक और आलोक
96	धोबी गया घाट पर	लोक और आलोक
97	तेज धार का कर्मठ पानी	लोक और आलोक
98	मैंने उसको	लोक और आलोक



